❀ ओ३म् ❀

दयानन्द दिव्य-दर्शन

लेखक
श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

अनुवादक
श्री पण्डित घासीराम एम० ए० (मेरठ)

प्रकाशक
भरतसिंह—स्वागत-मन्त्री
हरयाणा प्रान्तीय आर्य महासम्मेलन
रोहतक

प्रथमावृत्ति ३०००] दयानन्दाब्द १३० मूल्य ॥)

* ओ३म् *

दयानन्द दिव्य-दर्शन

लेखक

श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

अनुवादक

श्री पण्डित घासीराम एम० ए० (मेरठ)

प्रकाशक

भरतसिंह—स्वागत-मन्त्री

हरयाणा प्रान्तीय आर्य महासम्मेलन

रोहतक

प्रथमावृत्ति २०००] दयानन्दाब्द १३० मूल्य ॥)

ओ३म्

प्रकाशकीय निवेदन

श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय बंगाली सज्जन थे। आर्यसमाजी न होते हुए भी आप ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त थे। ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्र की घटनाओं के ज्ञान के लिए आपने निरन्तर १५ वर्ष तक भारत के राज्यों का बार-बार भ्रमण किया, ऋषि-भक्ति की धुन में आप इतने मस्त थे कि यात्रा के कष्ट और व्यय की चिन्ता न करते हुए भी घटनाओं के वृत्त-ज्ञानार्थ सर्वात्मना संलग्न रहे।

उत्तर प्रदेश राज्य के प्रसिद्ध स्वर्गीय आर्य विद्वान् श्री पं० घासीराम जी (मेरठ) ने श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के संचय का संकलन करके आर्यभाषा का रूप दिया। यही रूपान्तर प्रेमी पाठकों को समर्पित किया जा रहा है। हम उक्त दोनों महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने में अपना गौरव अनुभव करते हैं।

हम चाहते हैं कि प्रत्येक आर्य भाई ऋषि दयानन्द के प्रति प्रकट किये गये इन पवित्र भावों का अध्ययन और मनन बारंबार करे। इस प्रकाशन का प्रयोजन केवल प्रचार ही है।

चैत्र कृष्णा भरतसिंह स्वागत मन्त्री
नवमी सं० २०११ हरयाणा प्राँतीय आर्य महासम्मेलन
दयानन्दाब्द १३० रोहतक

प्राक्कथन

जैसे एक नदी की सृष्टि नाना दिग्देशागत जल-धाराओं के समवाय से होती है, वैसे ही मनुष्य-जीवन की सृष्टि भी नाना व्यक्ति और प्रभाव-समूह के समवाय से होती है। जिन्होंने ऊँचे पर्वत पर खड़े होकर किसी नदी विशेष के उत्पत्ति स्थान को देखा है, वे जानते हैं कि कितने छोटे-बड़े स्रोत भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर आपस में मिलकर नदी की उत्पत्ति करते हैं। मनुष्य-जीवन भी ठीक इसी प्रकार से उत्पन्न होता है। किसी एक मनुष्य के जीवन की पर्यालोचना करने से मालूम होगा कि उसमें अनेक विभिन्न प्रभावों का सम्मिलन हुआ है। यदि विचार करके देखा जाय कि मैं कौन हूँ; यदि अहंभाव का विश्लेषण किया जाय और देखा जाय कि मेरा संगठन किस उपादान से हुआ है। मैं किस-किस शक्ति के समवाय से सृष्ट हुआ हूँ, मेरे "मैं" में मेरा कितना निजू भाग और कितना दूसरों का है, तो ज्ञात होगा कि उसमें अनेक छोटे-बड़े प्रभावों का समवाय है। प्रथम पूर्वजन्मार्जित संस्कार, दूसरे पितृ-शक्ति, तीसरे मातृ-शक्ति, चौथे परिवेष्टनीय शक्ति, पाँचवें शिक्षा

शक्ति। इन्ही प्रधान-प्रधान पाँचों शक्तियों के स्रोतों के समवाय से मनुष्य की जीवननदी बनती है। इनके अतिरिक्त सूक्ष्म भाव से देखने से उसमें और भी छोटी-बड़ी शक्तियों का समवाय देखने में आता है। प्रागुक्त परिवेष्टनीय शक्ति के साथ जन्म-गृह, जन्म-स्थान और जन्म-पल्ली का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

परिवेष्टनीय शक्ति उसे कहते हैं जिससे मनुष्य अहरहः घिरा रहता है। उसके भीतर मनुष्य के चतुर्दिग्वर्ती चेतन, अचेतन और उद्भिज्जादि समस्त पदार्थभूत की शक्ति परिगणित होती है। हमने जिस घर में जन्म लिया, उसके चतुर्दिक्स्थ जो कुछ भी है, वह सब हमारे मन पर अपने प्रभाव का विस्तार करता है। जिस ग्राम में हमने जन्म लिया है, उसमें जो कुछ भी है, वह हमारे मन को संगठित करने में सहायता करता है। जिस स्थान वा जिस ग्राम में हम भूमिष्ठ हुए हैं उसके वृक्ष, लता, नदी, सरोवर, क्षेत्र, जङ्गल, वनभूमि, शिलास्तूप, सब पदार्थ ही हमारे मनोराज्य को विकसित करते हैं। यह एक विवादरहित सत्य है कि मनुष्य का अध्यात्म जगत् जिस प्रकार बाह्यजगत् के ऊपर कार्य करता है, बाह्यजगत् भी उसी प्रकार अध्यात्म जगत् के ऊपर अहरहः अपना

प्रभाव विस्तार करता है। नदी की कल्लोल, सागर-वक्ष का प्रकम्प, अत्युच्च शैल की गम्भीरता, विस्तीर्ण मरु प्रान्तर की भीषणता, मेघमाला की घन-गभीर नीलिमा, निबिड़ वनभूमि की अपरिच्छिन्न निस्तब्धता,—सब ही मनुष्य की चित्तवृत्ति का संगठन करती हैं। यही मनस्तत्व पण्डितों ने स्थिर किया है। इसलिए हम कहते हैं कि जो लोग संसार में महाजन नाम से विख्यात हैं, जो महान् मन और विशाल मति पाकर धरित्री की पृष्ठ पर आविर्भूत हुए हैं, प्रायः वे सब ही प्रकृति की सुन्दरतर महिमा वा रुद्रतर भाव के क्रोड़ में लालित, पालित और परिवर्धित हुए हैं।

अस्तु ! अगण्य—सुगण्य, पण्डित-मूर्ख, प्रातःस्मरणीय-परिवर्जनीय, भिखारी-प्रासादवासी, किसी भी मनुष्य को समझने का यदि यत्न किया जाय, अथवा मनुष्य के जीवन को यदि यथार्थ रूप से चित्रित करके देखा जाय तो यह जानना आवश्यक है कि उसके भीतर परिवेष्टनीय शक्ति ने कितना कार्य किया है। विशेषतः जो महापुरुष हैं, जिनके आविर्भाव से धरित्री पवित्र हुई है, जिनके प्रभाव से जन-समाज की गति पलटी है, वस्तुतः जो मनुष्य समाज के प्राण और मेरुदण्ड स्वरूप हैं, उनके चरित्र के वर्णन में उनकी जन्म-

भूमि का वर्णन अपरिहार्य रूप से आवश्यक है।

जिन्होंने इस पापपरिपुष्ट युग में जन्म लेकर जीवनभर निष्कण्टक ब्रह्मचर्य का पालन किया, जो विद्या में, वाक्पटुता में, तार्किकता में, शास्त्रदर्शिता में, भारतीय आचार्य-मण्डली के बीच में शङ्कराचार्य के ठीक परवर्ती आसन पर आरूढ़ होने के सर्वथा योग्य थे, वेदनिष्ठा में, वेद-व्याख्या में, वेद ज्ञान की गम्भीरता में, जिनका नाम व्यासादि महर्षिगण के ठीक नीचे लिखे जाने योग्य था, जो अपने को हिन्दुओं के आदर्श-सुधारक पद पर प्रतिष्ठित कर गए हैं और इस मृतप्राय आर्य जाति को जागरित करके उठाने के उद्देश्य से मृतसंजीविनी औषध के भाण्ड को हाथ में लेकर जिन्होंने भरतखण्ड में चतुर्दिक् परिभ्रमण किया था, दुःख का विषय है कि उनका चरित्र और उनकी जन्म-भूमि का प्रसङ्ग आज तक भी अप्रकाशित है। वह भारत-दिवाकर दयानन्द कहाँ जन्मा था, यह आज तक भी कोई नहीं जानता। आज प्रायः ३३ वर्ष स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्वर्गारोहण किए हो गए और जिस आर्य-समाज को इन्होंने इस उद्देश्य से स्थापित किया कि इनके उपदेशों का संसार में प्रचार करे, उसकी आयु भी प्रायः ४० वर्ष हो गई,

परन्तु उसने स्वामी जी के जन्म स्थानादि जानने के विषय में कोई विशेष यत्न नहीं किया। यद्यपि दयानन्द के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनमें किसी में भी उनकी जन्मभूमि की कथा निश्चित रूप से नहीं लिखी गई। इसलिए दयानन्द के जितने जीवन-चरित उपस्थित हैं, वे सब अपूर्ण और अङ्गहीन हैं। इसलिए आवश्यक है कि उनकी जन्मभूमि के विषय में पूरा अनुसन्धान और अन्वेषण किया जाय। इस कार्य को करने का हमने बीड़ा उठाया और हर्ष का विषय है कि असीम प्रयत्न और अनथक परिश्रम के पश्चात् हम अपने सङ्कल्प को पूरा करने में कृतकार्य हुए हैं।

सत्य की खोज के लिए अनुसन्धान के अविश्रान्त स्रोत का प्रवाहित रहना, गवेषणा के आलोक का प्रदीप्त रहना और जहाँ तक हो सके, उसे लेजाए जाना सत्य के निर्णय के लिए गवेषणा का पुनः-पुनः परिचालन करना आवश्यक है, इसी प्रकार घटना-विशेष को लोगों के सामने उज्ज्वल रूप में रखने के लिए और उसे दृढ़तर भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिए अनुसन्धान कार्य में बार-बार व्यापृत होना भी अपरिहार्य है। जब तक किसी विषय वा घटना पर

नानादिक् से आलोक पात नहीं किया जाता, तब तक वह स्फुटतर और उज्ज्वलतर नहीं हो सकती; जब तक अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक वह दृढ़तर भूमि के ऊपर स्थापित नहीं हो सकती। और यह निर्विवाद है कि नानादिक् से आलोक पात करना और अनेक प्रमाणों का संग्रह करना कष्टसाध्य है।

अतः जो कष्ट हमने सहे, जो धन और समय हमने व्यय किया, उस पर हमें तनिक भी पश्चात्ताप नहीं, क्योंकि दयानन्द के जीवन-चरित का महान् विषय बिना इसके लिखना असम्भव था और उसका लिखना देश के कल्याण के लिए आवश्यक था।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय (सन् १९१६)

———

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

हमसे हमारे बन्धुवर्ग बार-बार यह प्रश्न करते हैं कि तुम यह क्या कर रहे हो? मनुष्य पृथ्वी पर जन्म लेकर जो काम करते हैं, जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं, तुम उनमें से कोई काम भी नहीं करते? तुमने अपने जीवन का इतना समय केवल 'दयानन्द, दयानन्द' की रट लगा कर गंवाया है। जीवन के जिस अंश को सबसे श्रेष्ठ माना जाता है तुमने उसे 'दयानन्द, दयानन्द' कहके ही बिताया है।

बन्धुवर्ग का यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल भी नहीं है, क्योंकि गत १५ वर्ष*के अधिक भाग को हमने दयानन्द-सम्बन्धी कार्य में ही लगाया है। दयानन्द सरस्वती की जीवन-कथा के कीर्त्तन करने, दयानन्द के एक सर्वाङ्ग-सुन्दर जीवन-चरित के प्रकाशित करने के अभिप्राय से सामग्री और विवरण-माला के संग्रह करने में पूरे १५ वर्ष न भी लगे हों पर इसमें तो संदेह ही नहीं है कि १० वर्ष तो अवश्य ही लगे है।

---

* देवेन्द्र बाबू ने यह भूमिका १९१६ में लिखी थी।

सहस्रों रुपयों की प्राप्ति के लिए मनुष्य जितना उत्साह और परिश्रम करता है, हमनें उतना उत्साह और परिश्रम दयानन्द के जीवन की एक-एक घटना का पता लगाने में व्यय कर दिया है। एक घटना की सत्यता का निश्चय करने के लिए हम अनेक बार एक ही स्थान में गए हैं। जिस समय भी यह सुना कि अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति के पास जाने से दयानन्द-चरित की अमुक घटना का ठीक-ठीक पता लग सकता है, हम उसी समय टिकट लेकर सैकड़ों मील की यात्रा करके उस स्थान पर पहुँचे हैं। हमारी यह दशा रही है कि यदि आज हम अजमेर हैं, तो दस दिन पीछे जामनगर हैं, एक मास पीछे मुम्बई हैं तो कुछ दिन पीछे अमृतसर हैं, और दो मास पीछे मध्य-भारत के इन्दौर नगर में हैं, कभी महाराष्ट्र देश में कोल्हापुर में हैं तो कभी संयुक्तप्रांत में गंगा के तटवर्त्ती ग्राम कर्णवास में। इसी प्रकार इस विशाल भारतवर्ष के सभी प्रांतों में (केवल मद्रास प्रान्त को छोड़कर) बरसों पर्य्यटन किया है। न हमने जाड़े की परवाह की है न गर्मी की, न शरीर के स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया, न अस्वास्थ्य की ओर। कभी-कभी हम धनाभाव के कारण अस्थिर तक हो गये,

परन्तु हमने अपने व्रत को नहीं तोड़ा। प्रवास के कष्ट-क्लेश को भी हर प्रकार सहन किया। जो व्रत हमने धारण किया था उससे हमें किसी वस्तु ने एक दिन के लिए भी विचलित नहीं किया, न प्रबल धनाभाव ने न अनेक प्रकार की बाधाओं ने, और न ही प्रवास की असुविधाओं से उत्पन्न हुए सामयिक नैराश्य ने। परन्तु प्रश्न यह है कि इन कठिनाइयों ने हमें विचलित क्यों नहीं किया ? दयानन्द कौन है ? उसकी शिक्षा में ऐसी कौनसी अलौकिक शक्ति है, उसके उपदेशों में ऐसा कौनसा संजीवन मन्त्र छिपा हुआ है, जिसके कारण हम उसके जीवन-इतिहास के लिए क्लेश पर क्लेश सहते आए हैं ? दयानन्द के चरित के प्रकाशन के साथ भारत भूमि का ऐसा कौनसा हिताहित सम्बद्ध है जिसके कारण हमने सैकड़ों प्रतिकूलताओं के बीच में अपने आपको अटल रक्खा है ? दयानन्द की शिक्षा व उदाहरण के साथ बंगवासियों का बल्कि भारतवासियों का और इससे भी अधिक पृथ्वी भर के रहने वालों का ऐसा कौनसा कल्याण अनुस्यूत है जिसके कारण हमने अपने आपको इस भीष्म प्रतिज्ञा में बांधा है ?—इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना आवश्यक है। इसलिए हम अपने लेख को कुछ खोल कर लिखने का यत्न करेंगे।

१. आर्षज्ञान का प्रचारक

पाठक ! क्या तुमने पृथ्वी पर रहनेवाली इस समय की मनुष्य जाति की अवस्था को विचार कर देखा है ? क्या सारी पृथ्वी इस समय घोर अशांति से म्रियमाण दशा को प्राप्त नहीं हो रही है ? क्या नानाजाति, नाना जनपद, नाना राज्य, नाना देश अनेक प्रकार की अशांति की अग्नि से जलकर छार-खार नहीं हो रहे हैं ? क्या मनुष्य-संसार से शांति बिदा नहीं हो गई है ? हम पूछते हैं कि कभी पहले शिक्षा और विज्ञान के नाम पर संसार में इतने उपद्रव इतनी अशांति, इतने अस्वास्थ्य का विस्तार किया गया है ? क्या कभी सभ्यता के नाम पर मनुष्यों ने इतने मनुष्यों के शिर काटे हैं ? क्या कभी उन्नति की पताका हाथ में लेकर मनुष्य ने वसुन्धरा को नर-रक्त से इतना रंगा है ? यदि पहिले ऐसा कभी नहीं हुआ तो आज क्यों हो रहा है ? हम उत्तर देते हैं कि इसका कारण है **अनार्ष शिक्षा और अनार्ष ज्ञान का विस्तार !** इसका कारण है **यूरोप का पृथ्वीव्यापी प्रभाव और प्रतिष्ठा** !

यहाँ यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि यूरोप अनार्ष ज्ञान का गुरु और प्रचारक है। जो

यूरोप अनार्ष ज्ञान का प्रचारक है वही यूरोप आज ससागर वसुन्धरा का अधीश्वर है। छोटी-बड़ी, सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, नाना जातियों और जनपदों में उसी यूरोप की शासन-पद्धति प्रतिष्ठित और प्रचलित है। इसलिए जो जाति वा राज्य यूरोप के शासन वा संसर्ग में आ जाता है, उसमें अनार्षज्ञान का प्रचार और प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी कारण से उस जाति वा राज्य के भीतर अनेक प्रकार की अशांति की अग्नि धक्-धक् करके जल उठती है।

यूरोप! तूने प्रधानतः दो शिक्षाओं का सहारा लिया है, तूने विशेषतः दो सिद्धान्तों पर अपनी समाज-प्रणाली और सभ्यता के जीवन की स्थिति और उन्नति स्थापित की है। इनमें से पहला है—क्रमोन्नति (Evolution) और दूसरा है, योग्यतम की जय (Survival of the Fittest)। इन दोनों सिद्धान्तों के द्वारा तूने संसार का जो अनिष्ट किया है हम उसे कहना नहीं चाहते। "योग्यतम की जय" का नाम लेकर तू सहज में ही दुर्बल के मुँह से भोजन का ग्रास निकाल लेता है, सैकड़ों मनुष्यों को अन्न से वञ्चित कर देता है, एक-एक करके सारी जाति को निगृहीत, निपीड़ित और निःसहाय कर देता है। जब तू बिजली के प्रकाश

से प्रकाशित कमरे में संगमर्मर से मण्डित मेज़ के चारों ओर अर्धनग्ना सुन्दरियों को लेकर बैठता है उस समय यदि तेरे भोजन, सुख और सम्भाषण के लिए दस मनुष्यों के सिर काटने की भी आवश्यकता हो तो अनायास ही तू उन्हें काट डालेगा क्योंकि तेरी तो शिक्षा यही है कि योग्यतम की जय होती है। यूरोप ! आसुरीय वा अनार्ष-शिक्षा तेरे रोम-रोम में भरी हुई है। अपनी अतर्पणीय धन-लालसा को पूरी करने के लिए तू एक मनुष्य नहीं, दस मनुष्य नहीं, सौ मनुष्य नहीं, बल्कि बड़ी से बड़ी जाति को भी विध्वस्त कर डालता है। अपनी दुर्निवार्य्य भोग-तृष्णा की तृप्ति के लिए तू केवल मनुष्य को ही नहीं, वरन् पशु-पक्षी और स्थावर-जङ्गम तक को अस्थिर और अधीर कर डालता है। अपनी भोगविलास-पिपासा की तृप्ति के लिए तू लखूखा मनुष्यों के सुख और स्वतन्त्रता को सहज में ही हरण कर लेता है। तेरे कारण पृथ्वी सदा ही अस्थिर और कम्पायमान रहती है।

यूरोप ! तेरे पदार्पण मात्र से ही शान्तिदेवी मुँह छिपाकर पलायमान हो जाती है। भू-मण्डल के जिस स्थल में तेरे क़दम जाते हैं, जिस राज्य पर अधिकार हो जाता है, वह स्थल और वह राज्य सुखशून्य

और शान्तिशून्य हो जाता है। जिस स्थान पर तू अपनी जय-पताका फहराता है उस स्थान में सौ प्रकार की विशृङ्खलता आकर उपस्थित हो जाती है। जिस देश में तेरे शिक्षा-मन्दिर का द्वार खुलता है, तू उस देश को वञ्चना, प्रतारणा, कपट और मुकद्दमेबाजी के जाल में फाँस लेता है। जिस-जिस स्थान में तेरे धूमरथ (रेल) का नाद प्रतिध्वनित होता है, वहाँ दुर्भिक्ष और अनावृष्टि पिशाचिनी के डेरे लग जाते हैं। जिस भूमि में तेरी नहरों की जलधारा बहती है उस भूमि में नाना प्रकार की आधिव्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिस जनपद को तेरे कारखानों की चिमनियों से निकला हुआ धुँआ आच्छादित करता है वह जनपद भोगेच्छा का आकार बन जाता है, इससे अधिक हम क्या कहें।

यूरोप! तूने संसार का जितना अनिष्ट और अकल्याण किया है, मनुष्य का जितना अहित सम्पादन किया, उसमें सब से बड़ा अनिष्ट और अकल्याण यही है कि तूने मनुष्य-जीवन की प्रगति को उल्टा करने का प्रयत्न किया है। जिस मनुष्य ने निरन्तर मुक्तिरूप शान्ति पाने के उद्देश्य से जन्म लिया था, उसे तूने धन का दास और दुर्निवार्य्य भोगेच्छा का

क्रीत-किङ्कर बनने के लिए शिक्षित और दीक्षित कर दिया है। तेरी शिक्षा का उद्देश्य इसी सिद्धान्त का नाना भाव और नाना प्रकार से प्रचार और विस्तार करना है कि धन-सञ्चय करना ही मनुष्य-जीवन में सबसे अधिक वाञ्छनीय है। तू भोगमय और भोग-सर्वस्व है। जो वृत्ति मनुष्य-समाज में प्रथम वा प्रधान स्थान पर आरूढ़ थी उसे तूने सबसे नीचे स्थान पर रखने का निर्देश किया है। और जो वृत्ति सबसे नीचे स्थान पर थी उसे तूने प्रथम वा प्रधान पद पर आरूढ़ कर दिया है। तूने ब्रह्मवृत्ति का अपमान किया और उसे नीचे गिरा दिया है और वैश्यवृत्ति का सम्मान किया और उसे सबसे ऊँचा आसन दिया है। इसकी अपेक्षा और किस बात से मनुष्य का अधिकतर अनिष्ट साधन हो सकता है? यद्यपि तूने जहाँ-तहाँ दो-चार अनाथालय और रोगी-आश्रम स्थापित करके दया, दाक्षिण्य और परहित-परायणता का भी परिचय दिया है, परन्तु यह ऐसा ही है जैसे कोई पहिले गौ को वध करके पीछे दान दक्षिणा की व्यस्था करे, क्योंकि तूने अनेक मनुष्यों का विध्वंस कर डाला है, सैकड़ों सहस्रों नर-नारियों के हाथ में एकदम भीख का प्याला दे दिया है, जो स्थान शान्ति और आनन्द के निकेतन

थे, उन्हें श्मशान बना दिया है।

जब कि यूरोप अनार्ष ज्ञान का गुरु वा प्रचारक है, तो इसमें आश्चर्य्य करने की कोई बात नहीं है कि उसके प्रभाव से संसार का घोरतर अकल्याण सम्पादित होगा और मनुष्य समाज में नित्य नूतन अशान्ति की अग्नि प्रज्वलित होकर सबको भस्मसात् कर डालेगी। इसमें तनिक भी संशय नहीं हो सकता कि ऋषि-प्रणीत शिक्षा और ऋषि-प्रचारित ज्ञान ही मनुष्य की शान्ति का एक मात्र हेतु है।

यूरोप ने जिन गुरुओं से मन्त्र लिया है वे तत्ववित् वा तत्वदर्शी नहीं थे। बेन (Bain) और बेन्थम (Bentham), पेन (Payne) और स्पेन्सर (Spencer), कुन्त (Compte) और काण्ट (Kant) अथवा प्लैटो (Plato) और पिथागोरस (Pythagoras), ज्ञान-पर्वत पर बहुत ऊँचे तो चढ़ गये थे और उन्होंने अनेक तत्वों का अनुशीलन कर बहुत-सी जटिल समस्याओं की मीमांसा भी की थी, परन्तु वह केवल तत्वों की खोज करनेवाले ही रहे, वे किसी वस्तु के प्रकृत स्वरूप वा विषयविशेष के यथार्थ तत्व को निश्चय करने में समर्थ नहीं हुए। जो ऋषि-महर्षि आर्यभूमि को पवित्र कर गये हैं उनके सिवाय जगत् में और कोई तत्ववित् वा तत्व-

दर्शी पद का वाच्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि वे अविद्यान्धकार से मुक्ति पाने में समर्थ नहीं हुए थे। बेकन (Bacon), वा डार्विन (Darwin), हक्सले (Huxley) वा टिण्डल (Tyndall) ने अवश्यमेव विषय-विशेष के प्रकृत-तत्व के निश्चय करने में यथाशक्ति यत्न किया, परन्तु अविद्यान्धकार से विमुक्तचित्त नहीं हो सके। फिर वे कैसे यथार्थ तत्वावधारण में समर्थ हो सकते थे? और उनकी शिक्षा से मनुष्य-समाज में किस प्रकार शान्ति स्थापित हो सकती है? इसी कारण से यूरोप स्वयं अपनी अशान्ति की अग्नि में जल रहा है और इसलिये जो कोई जाति भी किसी न किसी प्रकार यूरोप के संसर्ग में आ जाती है उसे भी अशान्ति की अग्नि से दग्धविदग्ध होना पड़ता है।

इस जगद्-व्यापिनी अशान्ति का प्रतीकार एक मात्र आर्षज्ञान के विस्तार पर निर्भर है। परन्तु आर्ष-ज्ञान का सूर्य्य पाँच सहस्र से अधिक वर्षों से पृथ्वी-तल से अस्त हो गया है। आर्षज्ञान का सूर्य्य सब से पहले भारत-भूमि पर उदित हुआ था, परन्तु भारत-भूमि स्वयं सहस्रों वर्षों से आर्षज्ञान से वञ्चित हो रही है। इस दीर्घ काल में अन्य देशों में अनेक

आचार्य्यों का अभ्युदय हुआ, अनेक महान् आत्माओं ने जन्म ग्रहण किया, अनेक चिकित्सकों ने आविर्भूत होकर मनुष्य-जाति की मानसिक व्याधियों के जाल को तोड़ने का यत्न किया, परन्तु उनमें से किसी ने भी आर्ष-ज्ञान को पुनरुद्दीपित करने का उद्योग नहीं किया। इन पांच सहस्र से अधिक वर्षों में स्वयं आर्य्य भूमि में ही अनेक आचार्यों का आविर्भाव हुआ, परन्तु दुःख है कि उनमें से भी कोई विशेष रूप से ऋषि-महर्षि-प्रवर्तित ज्ञान के पुनरुद्धार में मनोयोगी नहीं हुआ। हम यह नहीं कहते कि शङ्कर, रामानुज वा माध्वाचार्य में से किसी ने भी ऋषि-सिद्धान्त के समर्थन में एक भी बात नहीं कही, परन्तु इतना अवश्य कहते हैं कि उन्होंने जितना परिश्रम अपने-अपने सम्प्रदायों के संगठन की पुष्टि में किया उतना आर्ष-ज्ञान के पुनरुद्धार में नहीं किया। अतः यह मानना पड़ता है कि इन पांच सहस्रों से अधिक वर्षों में पृथ्वी आर्ष-ज्ञान के आलोक से शून्य ही रही है।

लगभग एक सौ वर्ष हुए होंगे कि यमुना के तट पर मथुरा में एक अन्धे संन्यासी ने इस बात का प्रचार किया कि आर्षज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, आर्ष सिद्धान्त ही सर्वोत्तम सिद्धान्त है और आर्ष शिक्षा ही मनुष्य के

यथार्थ सुख और शान्ति का हेतु है। और उसकी शिक्षा दीक्षा और आदेश से गुजरात देश के एक ब्राह्मण-सन्तान ने ऋषि-प्रवर्तित ज्ञान को समस्त संसार में पुनरुद्दीपित करने में अपने जीवन की सम्पूर्ण शक्ति समर्पित की थी। पाठक! हम समझते हैं कि हमें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस अन्धे संन्यासी का नाम **'दण्डी विरजानन्द'** और इस गुजराती ब्राह्मण का नाम **'दयानन्द सरस्वती'** था। हम पूछते हैं कि उन पांच सहस्र वर्षों में दयानन्द सरस्वती के समान किस आर्ष-ज्ञान के पुनरुद्धारक ने जन्म लिया है? दयानन्द के समान आर्ष-ज्ञान के किस अद्वितीय प्रचारक का वर्त्तमान समय में आविर्भाव हुआ है? महर्षि कृष्णद्वैपायन के पीछे दयानन्द के समान अन्य कौन आचार्य आर्ष ज्ञान में तन्मय हुआ है? वेद आर्ष-ज्ञान का स्वरूप है। क्या दयानन्द के समान दूसरा वेदसर्वस्व वा वेदप्राण मनुष्य दिखाया जा सकता है? पाठक! शायद आप हमारी बातो पर अच्छे प्रकार ध्यान न देंगे। इसमें आपका अपराध नहीं है। "यथा राजा तथा प्रजा"—जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी हो जाती है। राजा अनार्ष विद्या का प्रचारक है। राजकीय शिक्षा पाने और उसका अभ्यास करने से

आप के मस्तिष्क की अवस्था अन्यथा हो गई है और इसलिए हमारे कथन की आपके कानों में समाने की सम्भावना नहीं हो सकती । परन्तु आप सुनें वा न सुनें, हम बिना किसी सन्देह और संकोच के घोषणा करते हैं कि वर्तमान युग में दयानन्द ही एकमात्र वेदप्राण पुरुष और आर्ष-ज्ञान का अद्वितीय प्रचारक हुआ है। आर्ष-ज्ञान के विस्तार पर ही सारे विश्व की शान्ति निर्भर है, आर्ष-शिक्षा के साथ मनुष्य-समाज की सर्व प्रकार की शान्ति अनुस्यूत है। जैसे और जिस प्रकार यह सत्य है कि एक और एक दो होते हैं, वैसे ही और उसी प्रकार यह भी सत्य है कि आर्ष-ज्ञान ही मानवीय शान्ति का अनन्य हेतु है।

ऐसी अवस्था में क्या फिर भी यह कहने की आवश्यकता रह जाती है कि आर्ष-ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक दयानन्द सरस्वती को समझने व समझाने का यत्न करना, उसे अच्छे प्रकार जानने व जनाने का प्रयास करना, उसके विषय में आलोचना करना और कराने का प्रयत्न करना हरएक व्यक्ति का, जो मनुष्य-जाति का हितैषी हो, कर्त्तव्य है ! मनुष्य ? यदि तू शान्ति का इच्छुक है तो तुझे आर्षज्ञान की महिमा समझनी होगी और आर्षज्ञान की महिमा समझने के लिए तुझे

दयानन्द को भी समझना होगा। इस दृष्टि से दयानन्द सारे मनुष्यों का आलोचनीय है। वास्तव में दयानन्द ऐसा सर्व-कल्याण कर, सुमहत् और सार्वजनिक कार्य कर गया है, कि उसका जीवन सर्वसाधारण की आलोचना का विषय होना ही चाहिये। जो ऋषिगण व्याकुल चित्त से "द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः" आदि शब्दों से परमात्मा की प्रार्थना कर गये हैं उन्हीं मनुष्य कुल-पूज्य ऋषियों की शिक्षा, ज्ञान और उपदेश को संसार में प्रतिष्ठित करना दयानन्द ने अपने जीवन का अद्वितीय और एकमात्र लक्ष्य बनाया था। तब इसमें क्या सन्देह रह जाता है कि दयानन्द का जीवन सारी भूमि और सब मनुष्यों के साथ संसृष्ट है? इसलिए जिस जीवन के साथ सार्वभौम और सार्वजनिक कल्याण इस प्रकार संलग्न है, उसके क्रमबद्ध इतिहास के लिखने में जो कठिनाइयाँ हमारे मार्ग में आई हैं, हम उन्हें क्लेश नहीं समझते। हम आशा करते हैं कि अब हमारे पाठक समझ गये होंगे कि उपर्युक्त हेतु दयानन्द की जीवनी प्रकाशित करने में हमारा पहिला हेतु है।

---

२. मूर्तिपूजा का शत्रु

पाठक ! क्या आप बता सकते हैं कि भारतवासी मनुष्यों की अवस्था ऐसी शोचनीय और ऐसी गिरी हुई कैसे हो गई है। क्या आप बता सकते हैं कि हिन्दुओं का चरित ऐसा हीन घृणित कैसे हो गया है ? क्या आप बता सकते हैं कि हिन्दू-जाति जगत् में ऐसी हेय और मलिन कैसे हो गई है ? हिन्दुओं की कोई बात भी ठीक नहीं है। हिन्दुओं में मन बल नहीं है। हिन्दुओं के सामने घोर से घोर अत्याचार होता है, परन्तु उनके मुँह से उसके प्रतिकूल एक शब्द तक नहीं निकलता। उनकी आँखों के सामने प्रबल दुर्बल के मुख से ग्रास निकाल लेता है, परन्तु हिन्दुओं में उसके विरुद्ध अंगुली उठाने की भी सामर्थ्य नहीं होता। हिन्दुओं के घर में अन्न नहीं है। उनकी बुद्धि में फन-फरेब जोड़-तोड़ के सिवाय कोई उच्चतर गुण नहीं है, उन्होंने अन्यों की भूमि पर, अन्यों के देश में जन्म लिया है और वह प्रवासी बनकर अपना सारा जीवन काटते हैं। चाटुकारिता में ही हिन्दुओं का पुरुषार्थ है। दूसरों की विद्या में पारदर्शिता प्राप्त करने में ही हिन्दुओं का अभिमान है। दूसरों के पैर चाटने में ही

उनकी गौरव है। पाठक बताइये हिन्दुओं को मनुष्योचित गुणों से किसने वञ्चित किया है ?

केवल यही बात नहीं है कि हिन्दू मनुष्योचित गुणों से वञ्चित होकर पशुतल्य बन गये हैं, इनके चरित्र में तो वह गुण भी दृष्टिगोचर नहीं होते जो पशु, पक्षी आदि इतर जन्तुओं में दिखाई देते हैं। आप एक बन्दर को मारें तो देखेंगे कि तत्काल दस बंदर इकट्ठे हो जायँगे और यदि वह और कुछ भी न कर सकें तो कम से कम इतना तो अवश्य करेंगे कि आपके मकान की मुंडेर पर बैठकर घुड़की दिखा कर आपको डरावेंगे और काट खाने की चेष्टा करेंगे। आप एक कौए को मारें तो पचासों कौए आन-की-आन में इकट्ठे होकर आपको घेर लेंगे और काँय काँय करके इतना शोर मचायेंगे कि आपको उस स्थान पर ठहरना दूभर कर देंगे। परन्तु यदि कोई किसी हिन्दू को मारे तो दस हिन्दू खड़े हुए उसके पिटने का तमाशा देखते रहेंगे, कई तो इस भय से कि कहीं गवाही देनी न पड़ जाय और कई डर के मारे वहाँ से धीरे-धीरे खिसक जायेंगे। ओह ! हिन्दू पशुओं से भी नीचे गिर गये हैं।

क्षुद्र चिउँटी में भी आत्म-सम्मान की रक्षा का

भाव देखने में आता है, परन्तु हिन्दुओं के चरित्र में यह भाव भी दिखाई नहीं देता। आपके पैर के नीचे आजाने पर चिउँटी भी काटने की चेष्टा करती है, बिल्ली तक भी बार-बार ताड़ित की जाने पर अपने नख दांतों द्वारा आघात पहुँचाने का यत्न करती है, परन्तु हिन्दुओं के आत्म-सम्मान की कोई कितनी ही क्षति करे, उनमें प्रतिकार की चेष्टा उत्पन्न नहीं होती, वे सर्वथा निर्वाक् और निश्चेष्ट रहते हैं। क्या इससे भी नीचे पतन हो सकता है ?

पाठको ! हिन्दुओं के चरित्र मे यह अमानुषत्व, पशुत्व और कल्पनातीत नीचत्व कैसे आया और कौन लाया ? हिन्दुओं को पशुओं से भी अधम किसने बनाया ? इन प्रश्नों का एक मात्र ही उत्तर है—मूर्तिपूजा।

शायद हमारे उत्तर से सन्तोष न हो, और यह कहा जाय कि मूर्तिपूजा ही सब दोषों की खान नहीं हो सकती। जब रूम ने गर्व से अपना मस्तक ऊँचा उठा कर जगत् में अपने आधिपत्य का विस्तार किया था तब वह भी मूर्तिपूजक था, जब यूनान ने अपनी गौरवछटा से चारों दिशाओं को आलोकित किया था तब वह भी मूर्तिपूजक था, जिस समय मिश्र उन्नति

के उंच्चतम सोपान पर आरूढ़ था उस समय कोई इतर जन्तु ऐसा नहीं था जिसकी मिश्र के मन्दिर में आराधना न होती हो। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मूर्तिपूजा दूषणीय है? परन्तु इस बात को सूक्ष्म भाव से समझने की आवश्यकता है। रूम यूनान और मिश्र की मूर्त्तिपूजा में और भारतवर्ष की मूर्त्तिपूजा में प्रकृतिगत और प्रकारगत भेद है। भारत-वासियों ने अपनी इच्छा और अभिरुचि मात्र से अनेक ईश्वरों की सृष्टि की है। हिन्दुओं ने अपनी कल्पना मात्र से अनेक परमेश्वरों को गढ़ लिया है। जिस परमात्मा का वेदादि शास्त्रों में अकाय अव्रण, अशब्द, अस्पर्श, आदि शब्दों से कीर्त्तन किया गया है उस परमात्मा में हिन्दू काम, क्रोध, भय क्षुधा, तृष्णा, व्याधि, आलस्य, निद्रा, विपत्, पुत्रोत्पादन, विद्वेष, हिंसा, कलह, स्वजनद्रोह, परस्त्रीगमन प्रभृतिका आरोप करने में अणुमात्र भी संकोच और पाप बोध नहीं करते। हिन्दुओं ने इन स्वकल्पित और नव निर्मित ईश्वरों में से हर एक की नाना प्रकार के उपकरणों के द्वारा पूजा-अर्चना करने और उस पूजा प्रणाली को चिरकाल तक स्थायी रखने के उद्देश्य से एक-एक पुराण और उपपुराण की रचना भी कर डली है।

यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि अपनी रुचि और इच्छा के अनुसार नित्य नूतन ईश्वरों की सृष्टि करने की प्रवृत्ति में हिन्दुओं ने अपनी मृत्यु का बीज स्थापित कर दिया है। इसके कारण हिन्दू उत्सन्नता के मार्ग पर जा रहे हैं, इसीलिए आज हिन्दू मरणासन्न की शय्या पर खड़े हुए हैं। यही हिन्दुओं की अवनति का प्रधान कारण है, यही भारत के सर्बनाश का प्रधानतर हेतु है। मूर्तिपूजा ने भारत के अकल्याण की जो सामग्री एकत्रित की है उसे लेखनी लिखने में असमर्थ है। मूर्त्तिपूजा ने भारतवासियों का जो अनिष्ट किया है उसे प्रकट करने से हमारी अपूर्ण-विकसित भावप्रकाशक-शक्ति अशक्त है। जो धर्म सम्पूर्ण भाव से आन्तरिक वा आध्यात्मिक था उसे सम्पूर्ण रूप से बाह्य किसने बनाया ?—मूर्तिपूजा ने। कामादि शत्रुओं के दमन और वैराग्य के साधन के बदले तिलक और त्रिपुण्ड्र किसने धारण कराया ?--मूर्तिपूजा ने ईश्वरभक्ति,, ईश्वरप्रीति, परोपकार और स्वार्थ त्याग के बदले अंग में गोपीचन्दन का लेपन, मुख से गंगा लहरी का उच्चारण,कण्ठ में अनेक प्रकार की मालाओं का धारण किसने सिखाया ?—मूर्तिपूजा ने। संयम, शुद्धता, चित्त की एकाग्रता आदि के स्थान में

त्रिसीमा (धारणा, ध्यान, समाधि) में प्रवेश न कर केवल दिन विशेष पर खाद्यविशेष का सेवन न करना; प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल में अलग अलग वस्त्रों के पहनने का आयोजन और तिथिविशेष पर मनुष्यविशेष का मुख देखना तो दूर रहा उसकी छाया तक का स्पर्श करना, यह सब किसने सिखाया ?—मूर्तिपूजा ने। हिन्दुओं के चित्त से स्वाधीन-चिन्तन की शक्ति किसने हरण की ?—मूर्तिपूजा ने। हिन्दुओं के मनोबल, वीर्य्य, उदारता और सत्साहस को किसने दूर किया ?—मूर्तिपूजा ने। प्रेम, समवेदना, और पर-दुःखानुभूति के बदले घोरतर स्वार्थपरता को हिन्दुओं के चरित्र में कौन लाई ?—मूर्तिपूजा। हिन्दुओं को अमानुष, अपितु पशुओं से भी अधम, किसने बनाया ? मूर्तिपूजा ने। आर्य्यावर्त्त के सैंकड़ों टुकड़े किसने किये ?—मूर्तिपूजा ने आर्य्य जाति को सैंकड़ों सम्प्रदायों में किसने बाँटा ?—मूर्तिपूजा ने। इस देश को सैंकड़ों वर्षों से पराधीनता की लोहमयी शृङ्खला में किसने जकड़ रक्खा है ?—मूर्तिपूजा ने। कौनसा अनर्थ है जो मूर्तिपूजा द्वारा सम्पादित नहीं हुआ ? सच्ची बात तो यह है कि आप चाहे हाईकोर्ट के न्यायधीश हों चाहे गवर्नर (लाट) साहब के प्रधानतर सचिव, आप बुद्धि में

बृहस्पति के तुल्य हों चाहे वाग्मिता में सिसरो (Cicero) और गिटे (Coethe) से भी बढ़कर, आप अपने देश में पूजित हों अथवा विदेश में, आप की ख्याति का डङ्का बजा हो, आप सरकारी कानून को पढ़कर सब प्रकार से अकार्य्य और कुकार्य्य को आश्रय देंने वाले अटर्नी (Attorney) कुल उज्जवलतम रत्न हों चाहे मिष्टभाषी, मिथ्योपजीवी सर्वप्रधान, स्मार्त्त (वकील) परन्तु यदि किसी अंश में भी आप मूर्तिपूजा का समर्थन करेंगे, तो हमें यह कहने में अणुमात्र भी संकोच नहीं होगा कि आप किसी अंश में भी भारतवर्ष के मित्र नहीं हो सकते, क्योंकि मूर्तिपूजा भारतवर्ष के सारे अनिष्टों का मूल है।

यदि मूर्तिपूजा कोई विशाल जंगल होता तो हम उसे अग्नि से एक क्षण में जलाकर राख करने का यत्न करते। यदि मूर्तिपूजा कोई बहुत शाखा-प्रशाखाओं वाला बड़ा वृक्ष होता तो हमने उसे अब तक कभी का उखाड़ कर भारत के सागर में फेंक दिया होता। यदि मूर्तिपूजा कोई दस्यु या दानव होता। तो हमने उसका सिर काटने का प्राणपण से अब तक कभी का प्रण कर लिया होता। परन्तु खेद है कि मूर्तिपूजा इनमें से कुछ भी नहीं है। हिन्दुओं की मूर्ति-

पूजा ऐसे सूक्ष्म भाव से, ऐसी जटिल रीति से, ऐसे कौशल के साथ, ऐसे अननुभूत रूप से प्रत्येक स्थान और स्थल में ऐसे सन्निविष्ट है, ऐसे अदृश्य भाव से हिन्दुओं की शिक्षा, साहित्य, धर्म, कर्म, आचार व्यव-हार के साथ अनुस्यूत है, उसके साथ भारत के इतने असंख्य लोगों का स्वार्थ लगा हुआ है, उसके साथ देश के इतने विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों की जीविका बंधी हुई है, कि हमारे अनुमान में वह कदाचित् ही इस देश से उन्मूलित हो सके। हमें भय है कि यह शत्रु जिसने भारत में रहने वालों का सब प्रकार से अनिष्ट साधन किया है कभी भी प्राणों से वियुक्त न होगा। हमारे अनुमान में कॉन्स्टैनटाइन, महान् (Coustantine, the Great) के समान कोई वैदिक चक्रवर्ती राजा कभी भारत के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ, तभी इसके सर्वाङ्गी विच्छेद की आशा की जा सकती है। जैसे उस महान् सम्राट् ईसाई धर्म को ग्रहण करके रोम साम्राज्य के सारे मन्दिरों से जूनों (Juno), जूपिटर (Jupiter), वीनस (Venus) और बैकस (Bachhus) आदि की मूर्त्तियों को निकलवा कर फिकवा दिया था और मन्दिरों को खाली कराकर उन्हें राजकीय कार्य्य में लाने की आज्ञा देदी थी। ऐसे

ही भारत में भी कभी कोई वैदिक राजा हुआ तो यह सम्भव हो सकता है कि मूर्तिपूजा का यहाँ से उच्छेद हो जाय, नहीं तो हम इसे किसी प्रकार भी दूर नहीं कर सकते। परन्तु इस अवस्था में तो यह आशा दुराशा मात्र है।

कहावत है कि 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी', इसलिए भारत में मूर्तिपूजा के उच्छेद का साधन न कभी उपस्थित होगा और न भारतभूमि उन्नति के उज्ज्वलतर आलोक से कभी सुशोभित हो सकेगी। हम दिव्य चक्षु से देख रहे हैं कि भारतभूमि को चिरकाल तक उसी अन्धकार से समाच्छन्न रहना होगा जिससे वह आज समाच्छन्न है, क्योंकि इस देश से मूर्ति पूजा के उठने की कोई सम्भावना नहीं है।

दयानन्द ने इस प्रबल शत्रु के विरुद्ध प्रचण्ड युद्ध का आयोजन करके न केवल भारत की आचार्य्य-मण्डली में अपने लिए अद्वितीय आसन बना लिया है, बल्कि हिन्दुओं के प्रकृत कल्याण के द्वार को भी खोल दिया है। इस देशके प्रायः सब ही आचार्यों ने, सम्भवतः सभी सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने, मूर्तिपूजा के साथ सन्धि करली या उसके साथ किसी न किसी प्रकार का सम-झौता करके चलने की चेष्टा की। महात्मा कबीर

मूर्तिपूजा के घोर विरोधी अवश्य थे और उसका प्रबल प्रतिवाद भी किया करते थे। परन्तु उनके अनुगामी कबीर पन्थियों ने उनका अनुमोदन करना शुरू कर दिया। भारत के आचार्यों की मानो यह अपरिहार्य नीति रही है कि वह मूर्तिपूजा और अद्वैतवाद के साथ किसी न किसी प्रकार से मित्रता स्थापित करलें। चाहे किसी सम्प्रदाय के अनुगामी उच्चश्रेणी के लोग रहे हों, चाहे किसी सम्प्रदाय ने विशुद्ध मत का प्रचार किया हो और चाहे किसी सम्प्रदाय के प्रचारकों ने उदार धर्म-प्रणाली का प्रचार किया हो, परन्तु सब सम्प्रदायों के आचार्यों ने यही स्थिर किया कि मूर्ति-पूजा के साथ समझौता करके ही चलना उत्तम है। इस देश में जितने भी आचार्य हुए हैं उनमें से दो-चार को छोड़कर शेष सब ही मूर्तिपूजा के साथ मित्रता स्थापित करके चलते रहे हैं। ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज रामसनेही और कुम्भपातिया सम्प्रदाय के सिवाय भारत के अन्य सब सम्प्रदाय मूर्तिपूजा के साथ सन्धि स्थापन करने के लिए लालायित रहे हैं। इसके अति-रिक्त भारत के पौराणिक धर्म का प्रभाव ऐसा अव-साद-जनक और विषाक्त है कि वह हर एक उन्नत और विशुद्ध धर्म और मत को विषाक्त और कलुषित

कर देता है। भारत में जो भी उदार मार्जित और परिशुद्ध धर्म-प्रणाली प्रचरित हुई, वही धीरे-धीरे पौराणिक धर्म की कुक्षिगत होकर उसकी मलिनता से मलिन होगई। महात्मा कबीर ने विशुद्ध ऐकेश्वरवाद का प्रचार किया था, परन्तु उनके सम्प्रदाय वालों ने उसे मूर्तिपूजा की मलिनता से दुर्गन्धित कर दिया। गुरु नानकदेव के उन्नत ऐकेश्वरवाद की कथा सभी को ज्ञात है, परन्तु अब उसमें भी मूर्तिपूजा की आवर्जन मिल गई है। हमने पंजाब की बहुत सी धर्मशालाओं में देखा है कि जहां एक ओर ग्रन्थ साहब की आरती होती है वहाँ दूसरी ओर जनार्दन, राम और कृष्ण की पूजा होती है। रावलपिण्डी के सरदार सुजानसिंह के उद्यान में हमने यह देखा कि एक ओर ग्रन्थ साहब के लिए धर्मशाला बनादी गई है और दूसरी ओर हिन्दुओं के देवी-देवताओं के लिए एक मन्दिर निर्माण कर दिया है। एक ओर गुरु नानक के अनुगामी सिक्ख लोग पौराणिक धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित करने में रत हैं तो दूसरी ओर पौराणिक धर्म वाले भी सिक्खों के साथ सन्धि करने के लिए उद्यत हैं। हमने पठानकोट के पास नूरपूर ग्राम में एक हिन्दू मन्दिर देखा जिसके एक पार्श्व में एक

देवमूर्ति स्थापित थी और दूसरी ओर ग्रन्थ साहब विराजमान थे। लोग हिन्दू मूर्तियों के साथ-साथ ग्रन्थ साहब की भी समानभाव से पूजा करते थे।

इस दृश्य को देखकर हमारे मन में यह कल्पना उठती है कि हिन्दू समाज एक भग्न मन्दिर के समान है, जिसके एक पार्श्व में पौराणिक धर्मरूपी एक बहु-वृद्धजराग्रस्त अजगर पड़ा हुआ है। उसके सामने भला-बुरा, उत्कृष्ट-निकृष्ट, शुद्ध-अशुद्ध जो कुछ भी पदार्थ आ जाता है, वह उसे उदरस्थ कर लेता है और यही घोषणा करता है "यह भी मेरा है, वह भी मेरा है"। यही कारण है कि पौराणिक हिन्दुओं ने बुद्ध तक को अवतार श्रेणी में मिलाकर अपने पूज्य देवों में सम्मिलित कर लिया है और वह बौद्ध धर्म को भी हिन्दू धर्म कहकर घोषणा करने में यत्न पर हैं। यही कारण है कि जहाँ हिन्दू प्रकृत हिन्दू-शिक्षा के हिन्दूपन को स्वीकार करते हैं वहाँ गुरु नानक प्रवर्तित धर्म को भी हिन्दू मत के अन्तर्गत मानने को उद्यत हैं। यही कारण है कि जिन गौराङ्गदेव ने 'यदि कृष्ण को भजेगा तो मोची भी शुद्ध हो जायगा' इत्यादि वचन कहकर वर्णभेद की प्रथा पर कुठाराघात किया। हिन्दुओं ने उन्हें भी अवतार दल में मिला लिया और

वैष्णवों ने गौराङ्ग के अनुयायियों को अपने पक्ष के उपासकों के बीच में अन्यतम उपासक बतलाकर ग्रहण कर लिया है हम समझते हैं कि पौराणिक धर्मरूपी बहुवृद्ध अजगर ने अबतक ब्रह्म समाज को भी अपने उदर में डाल लिया होता यदि ब्राह्म लोगों की अव-लम्बित विवाह-पद्धति ने बहुत बड़ा अन्तराय उपस्थित न कर दिया होता। फिर भी कभी-कभी यह बात अनुमान रूप से हमारे मन में उठती है, कि यदि नव-विधान मत के प्रवर्त्तक स्वर्गीय केशवचन्द्रसेन अबतक जीवित रहते, तो वह सम्भवतः मूर्तिपूजा से किसी न किसी रूप से सन्धि स्थापित कर लेते। उनके 'मृन्मये आधारे चिन्मयी देवी' प्रभृति उपदेशों का स्मरण करके और स्त्रियों के हाथ में हाथ देकर सखी भाव से नृत्य करने आदि बातों की आलोचना करके हमें अपने पूर्वोक्त अनुमान के मिथ्या प्रमाणित होने की सम्भा-वना नहीं रहती। अतः भारत के जल-वायु के प्रभाव और पौराणिक धर्म्म के अवसादकर और विषाक्त वातावरण के बीच में विशुद्ध ऐकेश्वरवाद को लेकर खड़ा रहना बड़ा कठिन है।

शायद यह बात बहुत से लोगों को ज्ञात नहीं होगी कि स्वामी दयानन्द से बहुत स्थानों में और बहुत

बार मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ने के लिए अनुरोध किया गया और उन्हें प्रलोभन तक भी दिये गये। सन् १८७७ ई० में जब कि वह लाहौर में ठहरे हुए थे और उन्होंने पंजाब में प्रबल आन्दोलन उपस्थित कर रक्खा था तब काश्मीर-पति महाराजा रणवीरसिंह ने पं० मनफूल द्वारा स्वामी जी से अनुरोध किया था कि आप जो कुछ और कार्य कर रहे हैं किए जाएँ परन्तु मूर्त्तिपूजा के विरोध में कुछ न कहें। यदि आप ऐसा करें तो मैं अपना धनागार आपके सामने समर्पण कर दूंगा। परन्तु दयानन्द ने इसका क्या उत्तर दिया ? उन्होंने पं० मनफूल से कहा कि "मैं वेद प्रतिपादित ब्रह्म को सन्तुष्ट करूंगा न कि काश्मीर-पति को। आप ऐसी बात फिर मेरे सामने न कहिये।" सन् १८६९ ई० में जब कि काशी में महाशास्त्रार्थ के कारण चारों ओर महा आन्दोलन हो रहा था, काशी का एक प्रसिद्ध पंडित एक दिन, रात्रि के समय दयानन्द के पास आया और यह प्रार्थना करने लगा "यदि आप अन्य सब बातों का खण्डन करें किन्तु एक मूर्तिपूजा का खण्डन न करें तो काशी की समग्र पण्डित-मण्डली एकत्र होकर आपके गले में जयमाला पहिनायगी और आपको हाथी पर सवार कराकर आपकी सवारी सारे नगर में निकालेगी

और आप को हिन्दुओं का अन्यतम अवतार मान लेगी।" इसके उत्तर में दयानन्द ने कहा "मैं यह कुछ नहीं चाहता, मैं तो वेद प्रतिपादित सत्य के प्रचार के लिए आया हूँ।" पण्डितजी यह सुनकर चुप हो गये और उठकर चले गये। ऐसा कहा जाता है कि दिल्ली के निकटवर्ती किसी स्थान का एक सेठ छकड़े में एक लाख रुपया भर कर स्वामीजी के पास लाया और विनयपूर्वक उनसे बोला "महाराज! मैं यह लाख रुपया आपकी भेंट करता हूँ, आप मूर्तिपूजा के खण्डन की बात जाने दीजिये। इसके सिवाय जो कुछ आप कहना चाहें कहते रहिए, मैं यह लाख रुपया आपके कार्यों के सहायतार्थ देता हूँ।" उस सेठ के इस अनुरोध को देख स्वामीजी हँसने लगे और उस सेठ से केवल इतना कहा, "सेठजी आप यहाँ से चले जाइये।" मूर्तिपूजा का प्रतिवाद करने में स्वामीजी इतने निर्भय, इतने साहसी और इतने पराक्रमी पुरुष थे कि जिस देवमन्दिर में जाकर विश्राम करते थे उसी के अन्दर उसी देवमूर्ति का का खण्डन करत्ते को उद्यत हो जाते थे। एक बार वह गोदावरी के तट पर नासिक में रामचन्द्रजी का मन्दिर देखने गये और उसी मन्दिर की सीढ़ियों पर खड़े होकर रामावतार का खण्डन

करने-लगे। मूर्तिपूजा के ऊपर वह इतने प्रचण्ड भाव, इतनी योग्यता और इतनी आन्तरिकता के साथ अस्त्र-क्षेप करते थे कि भारत के किसी आचार्य ने उनसे पहले इस प्रकार अस्त्रक्षेप कभी नहीं किया था। स्वामीजी अति सरल, उज्ज्वल और समीचीन भाव से प्रतिपादित किया करते थे कि मूर्तिपूजा के समान कोई महा मिथ्या वस्तु नहीं है। काशी शास्त्रार्थ में उनका प्रथम प्रधान पक्ष ही यह था कि "पाषाणादि मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध है।" पूना के शास्त्रियों के साथ भी उनका प्रधान विचारणीय विषय था कि "मूर्ति-पूजा मिथ्या है।" सारांश यह है कि घोरतम प्रतिकूलताओं के होने, घोरतम प्रलोभनों के दिये जाने और समय समय पर शत्रुओं के हाथों अपने प्राण नाश के यत्न किये जाने पर भा मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रचंड संग्राम उपस्थित करके उन्होंने भारत की आचार्य मंडली में अपने लिये विशेष स्थान बना लिया है। इसमें अणुमात्र भी संशय नहीं है कि इस पक्ष में वह अतुल्य, अनुपम और अद्वितीय थे। जैसे मूर्तिपूजा आर्य्य संस्कृति की प्रधानतम वैरिणी है, वैसे ही वह मूर्तिपूजा के प्रधानतम वैरी थे। उन्होंने समस्त भारत भूमि में अति उज्ज्वल और प्रबल भाव से इस बात

का प्रचार किया कि जब तक मूर्तिपूजा समूल नष्ट नहीं होगी तब तक भारत भूमि का कोई भी कल्याण साधित न हो सकेगा। इस प्रकार दयानन्द ने जैसे अपनी अपूर्वता और विशेषता की रक्षा की है वैसे ही इस देश का भी अशेष उपकार किया है। इसलिए ऐसे महानात्मा के अविकल जीवन-वृत्तान्त को भारत की विविध भाषाओं में प्रकाशित करने के यत्न का यह दूसरा हेतु है।

भारत की महिमा का मूल क्या था ? ब्रह्मचर्य ! हिन्दुओं की जिस गरीयसी प्रतिभा को देखकर प्राचीन यूनान और रोम आश्चर्य्यान्वित हो गये थे उसका हेतु क्या था ? ब्रह्मचर्य ! जो उपनिषदादि अनुपम और उपादेय ग्रन्थमाला के रचयिता थे, वह कौन थे ? ब्रह्मचारी ! रामायण और महाभारत के जिस अलौकिक सौन्दर्य्य को देखकर मनुष्य-मंडली अवाक् रह जाती है, उसके सृष्टिकर्त्ता कौन थे ? ब्रह्मचारी ! अर्थनीति, युद्धनीति, व्यवहारनीति और धर्म्मनीति के प्रवर्त्तक कौन थे ? ब्रह्मचारी ! गम्भीर विचारशीलता और तत्वानुसन्धान के अद्भुत क्षेत्रस्वरूप सांख्य-मीमांसा की रचना किन्होंने की ? ब्रह्मचारियों ने ! पाणिनि का पुनरुद्धार साधनपूर्वक भाषानुवादक, साहित्य-विज्ञान

के पथ का प्रचारक कौन था ? एक ब्रह्मचारी ! वैदिक विद्या के पुनरुद्दीपन में आत्मोत्सर्ग करके नये युग का प्रवर्त्तक कौन था ? एक ब्रह्मचारी ! सुतराम् देखा जाता है कि भारतभूमि का जो कुछ संबल, जो कुछ गौरव, जो कुछ प्रतिष्ठा थी उस सब के मूल में ब्रह्मचर्य ही विद्यमान था। अतः जब तक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान होता रहेगा, तब-तक भारत के विलय होने की सम्भावना नहीं हो सकती। जब तक ब्रह्मचारी का अभ्युदय होता रहेगा, तब तक आर्यजाति के लिए निराश होने का कोई कारण नहीं है। यह निश्चय है कि यदि आर्य्यावर्त्त फिर जागेगा तो ब्रह्मचर्य्य के ही प्रभाव से जागेगा, यदि इन पददलित परानुग्रहजीवी हिन्दुओं का पुनरुत्थान होगा तो ब्रह्मचारियों के द्वारा ही होगा। यदि आर्य्यों का प्रनष्ट गौरव फिर कभी वापस आकर चमकेगा तो ब्रह्मचर्य्य की ही महिमा से चमकेगा। क्योंकि बल, वीर्य्य, मेधा, धारणाशक्ति, नीरोगता और शारीरिक पराक्रम जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्य पर निर्भर है; मनुष्य की आशा, उत्साह अध्यवसाय, कष्टसहिष्णुता, श्रमशीलता, तितिक्षा और अटल प्रतिज्ञता आदि का संचार और परिपुष्टि भी उसी प्रकार ब्रह्मचर्य पर निर्भर है। जैसे दयानन्द अपने जीवन में

निष्कलङ्क ब्रह्मचर्य्य का परिचय देकर अपनी विद्या, पाण्डित्य और प्रतिभा आदि के विषय में असाधारणत्व को प्रतिष्ठित कर गये हैं, वैसे ही वह अपने जीवन में ब्रह्मचर्य्य को सर्वोच्च आसन पर स्थापित करके इस देश का महान् उपकार कर गए हैं।

४. भारतीय एकता का प्रतिपादक

गौतम बुद्ध ने शुद्धौदन राजा के घर जन्म लेकर और जीवन के दुःख-क्लेश मोचन करने के अभिप्राय से गृह त्याग किया था और फल्गु नदी के तीर पर छः वर्ष तक ध्यानावस्थित रहकर, उसके प्रभाव से बुद्धि-लाभ किया था। पहिले वाराणसी में और उसके पश्चात् उत्तर भारत में अनेक स्थानों में परिभ्रमण करके और निर्वाणतत्व को प्रचलित करके लखूखा मनुष्यों के लिये कल्याणपथ को उन्मुक्त किया था। और अन्त में कृष्ण नगरी के पास एक आम्रकानन में देह त्याग करके परम धाम किया था। परन्तु बुद्ध ने विच्छिन्न भारत को एकता के सूत्र में बांधने के पक्ष में क्या कभी एक बात भी कही? हमें उत्तर में यही कहना पड़ता है कि नहीं कही।

नम्बूद्रि ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर शंकराचार्य ने छोटी ही अवस्था में संन्यास ग्रहण कर लिया था।

अलौकिक प्रतिभा से वह अल्पावस्था में ही अगाध विद्या के पारदर्शी हो गए थे। वेदान्त-सूत्र का अनुपम भाष्य रचकर वह संसार में अविनश्वर कीर्ति स्थापित कर गए हैं, भारत के बहुत से स्थानों में पर्य्यटन करके अपने सुशाणित तर्कास्त्र के प्रभाव से नाना दिग्देशीय पण्डित-मण्डली को पराभूत करके वेदान्त मत का प्राधान्य स्थापित कर गए हैं, सौ मनुष्य भी अपने जानें हुए विषय को एकत्र करके जिस कार्य्य के करने में असमर्थ हैं, शंकराचार्य्य उसे बत्तीस वर्ष की आयु में अकेले ही सम्पादित करके दिव्यधाम को प्रस्थान कर गये हैं। शंकराचार्य्य यह सब कुछ कर गये, परन्तु क्या उन्होंने विभक्त और विच्छिन्न भारत में ऐक्य स्थापन के लिए कोई यत्न किया? उत्तर सिवाय 'नहीं' के और कुछ नहीं हो सकता।

बङ्गभूमि के प्रान्चल भाग के गौरव श्री गौराङ्ग-देव नवद्वीप में आविर्भूत होकर बङ्गाल को भक्ति की तरङ्ग में निमग्न कर गए, नामजपन और नामकीर्त्तन के माहात्म्य-विस्तार को चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित कर गए, संकीर्त्तन के पूत, पवित्र, पुण्यमय स्रोत को उन्मुक्त करके दीन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग की ओर खींच ले गये, तन्त्रोक्त घृणित और जुगुप्सित आचार-

विचार से सैकड़ों मनुष्यों की रक्षा करके देश का अशेष कल्याण कर गए और अन्त में जगन्नाथ में देह त्याग कर इस लोक से यात्रा कर गए। परन्तु क्या उन्होंने भारत में भारतीयता स्थापन करने के लिये कभी एक बात भी कही ? हमें कहना पड़ता है, एक भी नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में जितने भी आचार्य्य हुए हैं वे सब के सब इस विषय में चुप हैं। यह हो सकता है कि उनके लिए जो समग्र मानव-मण्डली के दुःखहरण का कठोरतम व्रत धारण करते हैं, देशविदेश अथवा जातिविशेष की उन्नति साधन करना क्षुद्र बात हो। यह भी हो सकता है कि जो अपनी आलोकिक ज्ञान-चक्षु के आलोक से संसार को ही नहीं, विश्व भर को ही मिथ्या सिद्ध करके दिखा गए हैं, जो अपनी अद्भुत शक्ति के प्रभाव से सारे जगत् के अस्तित्व बोध को "सर्प और रज्जु" के उदाहरण के समान एक महा भ्रम बता गए हैं, उनके लिए किसी देश में ऐक्य स्थापन करना एक तुच्छ बात रही हो। यह ठीक ही है कि उनके लिए जो ईश्वर-प्रेम में अहर्निश उन्मत्त रहते थे कि किसी देशविषय की उन्नति एक गौण बात रही हो। हम यहाँ तक भी

कह सकते हैं कि इन बातों का वास्तविक आध्यात्मिक महत्व न भी हो 'तथापि यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ये सब बातें किसी न किसी अंश में आवश्यक हैं। यदि मनुष्य अपने घर में दाल, चावल, घी, तेल, मिरच, मसाला आदि का संग्रह करता है, तो क्या दार्शनिक दृष्टि से वह कोई बड़ा काम करता है? निस्सन्देह नहीं, परन्तु फिर भी ऐसा करना उसके लिए अत्यन्तावश्यक है, क्योंकि इन वस्तुओं के बिना उसकी देह-रक्षा भी नहीं हो सकती। यदि कोई सूई के छिद्र में धागा पिरोकर वस्त्र सींता है, वा अपने पुराने कपड़ों की मरम्मत करता है तो क्या ऐतिहासिक दृष्टि से यह बड़ा काम गिना जा सकता है? कदापि नहीं, परन्तु इसका करना उसके लिए आवश्यक है। यदि मनुष्य अपने घर के चारों ओर के गढ़े भरने के लिए गोबर-मिट्टी लाता है, तो क्या राष्ट्रीय दष्टि से इसे कोई महान् कार्य्य कहा जा सकता है? गढ़ों में सर्पादि जन्तु आश्रय लेकर पास रहने वाले मनुष्यों का प्राणनाश तक कर सकते हैं। फलतः उपयुक्त कार्य्य-समूह यद्यपि महत्वहीन समझे जाते हैं, तथापि उन्हें करना ही पड़ेगा। यदि उनका सम्पादन न किया जायगा तो देह-रक्षा के विषय में अनेक विघ्न उपस्थित

होंगे, यहाँ तक कि असमय में शरीर के विनाश की भी सम्भावना हो सकती है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि देह-रक्षा, समस्त आशा, भरोसा उन्नति और आकाँक्षा की मूल है। इसलिए यद्यपि यह कार्य्य-समूह सामान्य और अगण्य है और यद्यपि राष्ट्रीय वा दार्शनिक दृष्टि से इसका कुछ मूल्य नहीं है, तथापि उसका नियमित रूप से सम्पादन करना मनुष्य के लिये आवश्यक है।

इसी प्रकार देश में एकता स्थापन करना वा जातीयता के संसाधन की चेष्टा करना भी आवश्यक है। जिस देश में एकता नहीं, परस्पर की प्रीति नहीं सद्भाव और समवेदना का बन्धन नहीं, उस देश में जीवन-यात्रा का निर्वाह निरापद नहीं हो सकता। जिस जाति के अन्दर जातीयता नहीं जो जाति भाषागत, सम्प्रदायगत, रीति-नीतिगत, आदर्शगत और धर्मगत विभिन्नताओं से शतधा छिन्न-भिन्न हो, रही हो, उस जाति का सदस्य रहना अनेक अंशों में ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति में अनेक प्रकार से विघ्नकर ही होगा। यह बात कुछ सूक्ष्म है इसलिए हम उसे कुछ खोलकर कहना चाहते हैं।

बात यह है कि मनुष्य सामाजिक जीव है।

वह अकेला रहकर, सर्वतोभावेन, निःसंग वा सम्बन्ध रहित रहकर, किसी से कुछ सहायता न लेकर, देह-यात्रा का निर्वाह नहीं कर सकता और उन्नति के मार्ग में एक पग भी आगे नही रख सकता। एक मनुष्य की उन्नति-अवनति और कल्याण-अकल्याण का सम्बन्ध उसके पड़ौसियों, नगर-निवासियों यहां तक कि समस्त स्वदेशवासी जन-साधारण की उन्नति-अवनति, कल्याण-अकल्याण के साथ अविछिन्न रूप से है। यदि हमारे ग्राम, पथ, घाट आदि परिष्कृत और स्वच्छ न हों तो हम स्वास्थ्य भोग नहीं कर सकते। जैसे हम अपने शिक्षा-भवन को परिष्कृत रखना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वैसे ही अपने ग्राम, पथ; घाट आदि को भी स्वच्छ और निर्मल रखना हमें अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। यदि हम अपने पुत्र को सत्स्वभाव सम्पन्न रखना चाहते हैं तो हमें अपने ग्राम-निवासियों को भी सच्चरित्र बनाने का यत्न करना पड़ेगा। यदि ऐसा न किया जायगा तो ग्राम के बालक दुष्ट हो जायेंगे और उनके साथ मिलने-जुलने से हमारे पुत्र के भी दुश्चरित्र हो जाने की सम्भावना होगी। यदि हम स्वयं साधु रहना चाहते हें तो हमें अपने मोदी को भी साधु रखना होगा।

कल्पना कीजिए कि हम छुट्टी पाकर वा पेंशन लेकर यह संकल्प करके अपने घर आये हों कि जीवन का शेष काल आध्यात्मिक चर्चा में बितायेंगे। अब यदि हमारा मोदी कुत्सित भक्ष्य-द्रव्य हमारे उदर में पहुँचता है, हमारा ग्वाला अस्वच्छ पानी मिला हुआ दूध पिलाकर हमारे शरीर में रोग का संचार कर देता है, तो हम आध्यात्मिक चर्चा वा भजन साधन निरापद रूप से कैसे कर सकेंगे? बारम्बार रोगाक्रान्त रहने और अनेक प्रकार की घोरतर अशान्ति से पूर्ण जीवन व्यतीत करने से हम असमय में ही देह त्याग करके परलोक सिधार जायेंगे, फिर कहाँ रहेगा हमारा भजन-साधन और कहाँ रहेगा आध्यात्मिक चर्चा का संकल्प? इस प्रकार का और भी दृष्टान्त दिया जा सकता है, जिससें यह प्रमाणित होगा कि जैसे राष्ट्रीय उन्नति समष्टिगत उन्नति पर निर्भर है वैसेही समष्टिगत उन्नति व्यक्तिगत उन्नति पर स्थित है। हमारी उन्नति दस मनुष्यों की उन्नति के साथ सम्बद्ध है और हमारी अवनति भी दूसरे मनुष्यों की अवनति के साथ ग्रथित है, क्योंकि हम सामाजिक जीव हैं। अब हम समझते हैं कि इस बात को अधिक विस्तार पूर्वक बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि देशवासियों में देशप्रेम का

बन्धन् वा देश में जातीयता का संगठन होना अत्यन्तावश्यक है। मनुष्य जाति का इतिहास इस सत्य की स्पष्टाक्षरों में घोषणा करता है कि धन-धान्य की उन्नति, शिल्प की उन्नति, साहित्य की उन्नति और अन्य सब प्रकार की उन्नति जातीय एकता, बल्कि यों कहना चाहिये, जातीय स्वाधीनता के बिना ही नहीं हो सकती। इसलिए स्थलविशेष के निष्कण्टक वा निरापद हुए बिना जीव की कैवल्य-प्राप्ति वा परम पुरुषार्थ साधन की चेष्टा भी सफल नहीं हो सकती।

आर्य्यजाति के इतिहास की क्रमपूर्वक आलोचना करने से ज्ञात होता है, कि इस अपेक्षाकृत सामान्य परन्तु नितान्त आवश्यक विषय के सम्बन्ध में न तो वैदिक समय के आचार्य्या-गण, न बुद्ध और बौद्ध युगके उपदेष्टा और न चैतन्य, नानक प्रभृति सन्त-महाजनों में से एक के मुख से ही एक शब्द निकला। मनु,अत्रि प्रभृति ऋषिगण स्मृतिकार भी अपनी स्मृतियों के किसी सूत्र में इस विषय पर किसी बात का वर्णन करके नहीं गए। मध्यवर्ती काल के पौराणिकगण भी इस विषय पर न आख्यान के रूप में और न उपदेश-भाव से ही कोई उल्लेख कर गये हैं। अपेक्षाकृत आधुनिक समय के

व्यवस्थापक और संग्रहकर्त्तागण भवदेवभट्ट, शूलपाणि, स्मार्त रघुनन्दन प्रभृति वृषोत्सर्गादि श्राद्धके विषय में विस्तार पूर्वक व्याख्या कर गये हैं, यहाँ तक कि छींक और छपकली आदि के शुभाशुभ फल के सम्बन्ध में भी व्यवस्था दे गये हैं, परन्तु इस अत्यन्त प्रयोजनीय विषय के सम्बन्ध में एक पंक्ति भी लिखकर नहीं गये। यही भारत का दुर्दृश्य है, यही आर्य्यों का अमिट कलङ्क है, यही हमारी जाति की उन्नति के विषय में विघ्न है। ऐसा ज्ञात ही नहीं होता कि भारत में कभी किसी अंश में भी स्वदेशता वा स्वजातित्व का भाव हो रहा हो। इस देश के लोग कुलगत वा वर्णगत गौरव में ही व्यस्त रहते थे। हम अब तक कुलगौरव वा वर्णगौरव की ही बातों की भरमार करते आये हैं। जितना हम इस बात के लिए उत्सुक रहते हैं कि तुम ब्राह्मण हो वा क्षत्रिय, श्रोत्रिय हो वा स्मार्त्त परमारों के वंशधर हो वा सीशोदियों के कुल में, इतना हम यह जानने के इच्छुक नहीं रहते कि तुम भारतवासी हो वा आर्य्य जाति के सदस्य हो। यही कारण है कि हमारे शास्त्र और संहिताएँ कुल गाथाओं और ब्राह्मणादि वर्ण की कथाओं से परिपूर्ण हैं। साराँश यह है कि जाति की

एकता वा जाति की उन्नति के विषय में भारतीय आचार्यगण जैसे मौन हैं भारत की शास्त्र संहिताएँ भी वैसी ही निर्वाक् हैं ।

यह देश का सौभाग्य था कि वर्त्तमान समय के आचार्य्य स्वामी दयानन्द ने हमारी युग-युग-व्यापिनी नीरवता को भङ्ग करके, चिरन्तनी उदासीनता को छिन्नभिन्न करके शास्त्र-संस्कार और धर्म-संस्कार के साथ-साथ जातीय एकता की आवश्यकता को भी प्रतिपादित किया । उन्होंने कौपीनधारी संन्यासी होते हुए भी इस बात को सुस्पष्ट रूप से जान लिया था कि जब तक स्वदेशीजनों में बल नहीं बढेगा, स्वदेश में जातीयता प्रतिष्ठित नहीं होगी, जाति के अन्दर एकता बन्धन दृढ़तर न होगा, तब तक धर्म-संस्कार, शास्त्र संस्कार, देशोन्नति, सामाजिकोन्नति आदि कुछ भी न हो सकेगा । इसी कारण से जैसे वह समस्त भारत में एक शास्त्र अर्थात् वेदशास्त्र को स्थापित करने के लिये आजीवन संग्राम करते रहे, वैसे ही वेद प्रतिपादित एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना को प्रतिष्ठित करने के लिये भी मन, वचन कर्म से चेष्टा करते रहे । उन्होंने जैसा प्रयास भारत के कुलगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत शाखा-

प्रशाखा भेद को छिन्न-भिन्न करके आर्य्य जाति का संगठन के निमित्त किया था, वैसा ही प्रबल परिश्रम उन्होंने उसके निमित्त भी किया था कि आर्य्यावर्त्त में आदि से अन्त तक एक भाषा प्रचलित हो जाय। वस्तुतः इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दी भाषा को आर्य्य भाषा अर्थात् समस्त आर्य्यावर्त्त में प्रचलित भाषा का नाम दिया था।

बहुत दिन हुए जब कि प्रसिद्ध हंटर (Hunter) साहब की अध्यक्षता में शिक्षा-कमीशन (Education commission) बैठा था तो उन्होंने उसके सामने हिंदी का पक्ष स्थापित करने के पक्ष में साक्षी देने के लिए देश के उच्च पदारूढ़ और सम्भ्रान्त मनुष्यों को प्रोत्साहित किया था। इन सब बातों की आलोचना करने से स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि इस संन्यासी के हृदय में यह प्रबल इच्छा और प्रबल उत्साह था कि सारे भारतवर्ष में एक शास्त्र प्रतिष्ठित हो, एक देवता पूजित हो, एक जाति संगठित हो और एक भाषा प्रचलित हो। यही नहीं कि उनमें केवल ऐसी सद्इच्छा और उत्साह ही था, वरन् वह इस इच्छा और उत्साह को किसी अंश तक कार्य में परिणत करने में भी कृतकार्य हुए थे। अतएव स्वामी दयानन्द केवल

संन्यासी ही नहीं थे, केवल वेद-व्याख्याता ही नहीं थे, केवल शास्त्रों के मर्म्मोद्घाटन करने में ही निपुण नही थे, केवल तार्किक हो नहीं थे, केवल दिग्विजयी पंडित ही नहीं थे, वह भारतीय एकता के स्थापन कर्ता भी थे, भारत की जातीयता के प्रतिष्ठाता भी थे ! इस लिए भारत की आचार्य-मण्डली में दयानन्द का स्थान विशिष्ट और अद्वितीय है। अतः दयानन्द को सुप्रतिष्ठित करने के पक्ष में यह हमारा चौथा हेतु है।

५. जीवनचरित्र और इतिहास

जो कष्ट हमने सहे वा जो परिश्रम हमने किए उनके लिए हम कदापि दुःखित नहीं हैं, क्योंकि इतिहास वा जीवन चरित-सम्बन्धी घटनाओं की सत्यता निर्धारित करने के लिए निरन्तर छान-बीन, गहरे अनुसन्धान और बहुकालव्यापिनी गवेषणा की अत्यन्त आवश्यकता है। अनेक प्रकार के कूड़ा-कर्कट से मिले हुए अन्न को जैसे सूक्ष्म और सूछिद्र-सम्पन्न छलनी से छानना आवश्यक है, वैसे ही ऐतिहासिक अथवा चरित्र-सम्बन्धी घटनाओं की यथार्थता निरूपण करने के लिए गवेषणा की सूक्ष्म से सूक्ष्म छलनो का प्रयोग अनिवार्य है। इस देश के लेखकों में अनुसन्धान-वृत्ति का विकास

बहुत ही कम है। वे विषयविशेष के यथाथ्य की पुनः-पुनः निरूपण करने की चेष्टा नहीं करते, हाथ में गवेषणा की छूरी लेकर विश्लेषण करने के वास्ते अग्रसर नहीं होते। इसलिए इस देश में ऐतिहासिक तत्व और चारित्रिक वृत्तान्त सत्य की प्रभा से प्रभावित नहीं होते और प्रमाण की दढ़तर भित्ति पर प्रतिष्ठित नहीं होते। जब तक सत्य के दुरारोहश्शृङ्ग पर पहुँचने की शक्ति न हो तब तक गवेषणा का आलोक हाथ में लेकर सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ना पड़ेगा। योरुप वासियों में गवेषणा-वृत्ति का बहुत विकास है, इसलिए वह एक ही विषय पर ग्रन्थ पर ग्रन्थ प्रकाशित करने में समर्थ हो जाते हैं। एक ही महापुरुष के कई-कई जीवन-वृत्त लिखे जाते हैं। गिबन ही के साथ रोम का इतिहास-लेखन समाप्त नहीं हुआ, उसके पश्चात् अन्य कई लेखकों ने रोम का इतिहास लिखा, हैलम (Hallam) के अतिरिक्त और भी कई ग्रन्थकारों ने मध्ययुग का इतिहास लिखा है।

स्वामी दयानन्द की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के निर्णय करने के लिए हमने इतने समय तक जो यत्न परिश्रम और गवेषणा की है उसका उल्लेख हमने अपना कार्य, प्राधान्य वा गौरव दिखाने के अभिप्राय से नहीं

क्रिया है और न उसके परिचय देने के उद्देश्य से हमने इस ग्रन्थ की रचना की है। हमारा उसके उल्लेख से केवल यह दिखाने और समझाने का प्रयोजन है कि बिना स्वतन्त्र, सूक्ष्म और पक्षपातरहित गवेषणा के ऐतिहासिक घटनाओं और विचारों की सत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता।

इतिहास और जीवनचरित एक ही वस्तु है। दोनों में यदि कोई प्रकारगत पार्थक्य हो भी, तो भी कोई प्रकृतिगत प्रार्थक्य नहीं है। महापुरुषों की चरितमाला ही इतिहास का प्रधान अंग वा उपादान है। महापुरुष ही संसार की महती घटनाओं के प्रवर्त्तक होते हैं। जो स्रोत समाज की मूलभित्ति तक को हिला देता है, जो स्रोत समाज शरीर में नई शक्ति का संचार कर देता है, जो स्रोत राज्य विशेष के अभ्युत्थान वा विनाश का साधन होता है, जो स्रोत मानव-समाज के कुत्सित आचार-विचार और विश्वास को सर्वथा परिवर्त्तित कर देता है, महापुरुष ही उस स्रोत के उत्पादक होते हैं। अकेले मार्टिन लूथर के नाम और कार्य से इतिहास के सैंकड़ों पृष्ठ भरे पड़े हैं। मेजिनी और गैरीबाल्डी के कृत्य और विचारों से ही नवीन इटली के नवीन इतिहास का कलेवर बना है। अकेले गौतम-

बुद्ध के उपदेशों और सन्देशों के प्रभाव से ही प्रायः एक सहस्र वर्ष व्यापी भारत का इतिहास रचा गया है, इसलिए महापुरुष ही इतिहास की मूलभित्ति और आधार हैं। इसी कारण से प्रख्यात नामा पण्डित फ्रेड्रिक हैरिसन (Frederic Herrison) ने इस विषय में कहा है—

There is one-mode in which history may be most easily perheps most usefully. approached. Let him who desires to find profit in it begin by knowing of the lives of great men.' (The meaning of History p. 23)

"जो लोग इतिहास से लाभ उठाना चाहते हैं उन्हें इतिहासाध्ययन करने से पहले महापुरुषों के जीवन-चरितों का कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि यह एक ऐसी रीति है जिसके अनुसार इतिहास का अध्ययन बहुत सुगमता और सम्भवतः उपयोगिता के साथ किया जा सकता है।" मीनिंग आफ हिस्ट्री (इतिहास का अर्थ) पृ० २३

अर्थात् इतिहास को समझने से पहले महापुरुषों को समझना चाहिए।

अतएव इतिहास के तत्त्वों का निर्णय करने के लिए जैसी गवेषणा की आवश्यकता है महापुरुषों के चरित को लिपिबद्ध करने के लिए भी वैसी ही गवेषणा

की आवश्यकता है। परन्तु जिस देश में इतिहास नाम की कोई वस्तु न हो, जिस देश के वासियों के चरित में इतिहासवृत्ति के नाम की कोई वृत्ति देखने में न आती हो, जिस जाति के हृदय में इतिहास के प्रति कोई रुचि, अवस्था वा अनुराग दृष्टिगोचर न होता हो, उस देश वा उस जाति में गवेषणा चाहे वह कैसी ही स्वतन्त्र, कैसी ही सूक्ष्म और कैसी ही पक्षपातरहित क्यों न हो, कृतकार्य नहीं हो सकती।

हमारा यह कथन कि इस देश में इतिहास नाम की कोई वस्तु वा कोई वृत्ति नहीं है किसी-किसी को बुरी लगेगी। कुछ लोग कहेंगे कि जिस देश में रामायण और महाभारत विद्यमान हों, जिस देश में बहु-संख्यक पुराण, उपपुराण वर्तमान हों, उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि उसमें इतिहास नाम की कोई वस्तु नहीं है। जब संस्कृत साहित्य में इतिहास वा "इतिह-आस" शब्द पाये जाते हैं तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उस देश में इतिहास नाम की कोई वस्तु न हो ? जो सज्जन ऐसा विश्वास रखते हैं वह वास्तव में यह नहीं जानते कि इतिहास किसे कहते हैं और उसका क्या स्वरूप है। जो बात सत्य है वह कहनी पड़ती है। रामायण और महाभारत को

इतिहास का नाम नहीं दिया जा सकता। वह काव्य महाकाव्य है।

रामायण का इतिहास न होना स्वयं उसके कर्त्ता महर्षि बाल्मीकि ने फल-श्रुति स्थल अर्थात् लंकाकाँड के अन्तिम भाग में स्वीकार किया है और रामायण को काव्य कहा है।

श्रृण्वन्ति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
ते प्राथितान् वरान् सर्वान् प्राप्नुवन्तीह राघवात्॥

स० १३०। श्लोक० ११६॥

जो इस काव्य को जिसे प्राचीन समय में वाल्मीकि ने बनाया था सुनते हैं, वह इस संसार में रामचन्द्रजी से अपने माँगे हुए सारे वरों को प्राप्त करते हैं।

ऐसे ही महाभारत भी काव्य या महाकाव्य है। आदिपर्व की अनुक्रमणिका में लिखा है "मैं जानता हूँ कि तुमने जन्म से सत् और ब्रह्मविषयक वाक्य ही कहे हैं और तुम स्वप्रणीत ग्रन्थ को काव्य कहकर ही प्रसिद्ध करते हो इसलिए वह काव्य नाम से ही प्रसिद्ध होगा और जैसे आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्व-प्रधान है वैसे ही यह काव्यों में सर्व-श्रेष्ठ होगा।"

अनेक राजाओं के कथा-कीर्त्तन, अनेक युद्धों के वर्णन और अनेक महर्षि महापुरुषों के चरितोपाख्यानों

से परिपूरित होने पर भी पुराण, उपपुराण इतिहास नाम से अभिहित होने के योग्य नहीं हैं। यदि कहो कि राजतरंगिणी तो इतिहास की कोटि में आती है परंतु राजतरंगिणी केवल एक विवरण-माला है और इतिहास (History) और विवरण माला एक ही वस्तु नहीं हैं आजकल इतिहास शब्द के अर्थों ने जो परिवर्तित रूप धारण किया है, हम समझते हैं, पाठक उससे अनभिज्ञ नहीं हैं। जिस समय जोसिफ़स प्राचीन यहूदी जाति के इतिहास की वेदी के आसन पर समासीन हुए थे, जिस समय इतिहास-रचना कला के पथ-प्रदर्शक वा पितृस्वरूप योरोपीयगण विविध जातियों के इतिहास-प्रणयन में लगे हुए थे, उस समय जो अर्थ इतिहास शब्द के थे वह अर्थ अब नहीं हैं अब इतिहास ने सुन्दरतर और उज्ज्वलतर मूर्तिधारण करली है। अब इतिहास को दार्शनिकता की भित्ति पर स्थापित कर दिया गया है। अब केवल विवरण माला का समावेश ही इतिहास में नहीं है। केवल घटना परम्परा के विज्ञान और वर्णन करने से ही इतिहास नहीं लिखा जाता, केवल युद्धों के वर्णन, युद्ध नेताओं की पदाति, अश्वारोही सेना की संख्या के निरूपण और युद्धों के जय-पराजय के संवाद-लेखन ही

ऐतिहासिक कर्म्म नहीं है। यह सब इतिहास के बहिरंग मात्र हैं अन्तरंग नहीं हैं, इतिहास के शरीर हैं प्राण नहीं हैं, इतिहास के स्थूलाँश हैं सूक्ष्मांश नहीं हैं। घटना विशेष को वर्णन करके यदि उसके कारणों को न बताया जाय, राज्य-विशेष के अभ्युत्थान के विवरण को लिपिबद्ध करके यदि उसके कारणों का निदर्शन न किया जाय तो उसकी इतिहास में गणना न होगी। कल्पना करो कि आप बूअर-इंग्लिश-युद्ध का इतिहास लिखने बैठते हैं और केवल इतना ही उल्लेख करके कि बूअर सेना के इतने सैनिक क्षत-विक्षत हुए, अंग्रेजो सेना के इतने योद्धा हत-आहत हुए, अंग्रेजी सेना ने इस प्रकार जय लाभ किया और बूअरों को इतनी हानि पहुँचाई, अपने इतिहास को समाप्त कर देते हैं, तो हम कहेंगे कि आपने इतिहास नहीं लिखा। यदि आप वास्तविक अर्थों में उस युद्धका इतिहास लिखना चाहते हैं, तो उपर्युक्त विषयों का समावेश करने के साथ-साथ आप को यह भी लिखना होगा कि युद्ध के क्या-क्या कारण थें और वह कारण परम्परा कितने दिनों से दोनों जातियों के जीवन में उत्पन्न हो रही थी और किस विशेष घटना के उपस्थित होने पर उस कारण-परम्परा ने कार्य्यरूप धारण करके दोनों

जातियों को तुमुल-युद्ध में प्रवृत्त कर दिया, इत्यादि। इन विषयों को सूक्ष्म भाव से चित्रित किये बिना आपका इतिहास इतिहासपद वाच्य नहीं हो सकता।

सारांश यह है कि केवल कार्य का विवरण करने से काम नहीं चलता, उसके साथ कारण का भी उल्लेख करना चाहिये। ऐतिहासिक-शिरोमणि गिबन ने जिस भाव से रोम की क्रमोन्नति और अधःपतन का इतिहास लिखा है, जिस प्रणाली का अवलम्बन करके हैलम ने मध्ययुग के इतिहास का सङ्कलन किया है, जिस रीति का अनुसरण करके सभ्यता का इतिहास प्रणयन किया है, और जिस पद्धति का सहारा लेकर डाक्टर मिलमैन ने लैटिन क्रिश्चैनिटी का इतिहास मानव-समाज के सामने रक्खा है, उस भाव, प्रणाली रीति वा पद्धति का अनुगमन करके भारत में आज तक कोई इतिहास नहीं लिखा गया। अतः यह कहना पड़ता है कि हिन्दुओं का कोई इतिहास नहीं है, उनमें इतिहास-रचनाकला का अभाव है इस कारण भारत-भूमि में प्रकृत इतिहास रचना का मार्ग कण्टकाकीर्ण है और प्रकृत-जीवन-वृत्तान्त रचना का मार्ग भी सैंकड़ों विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण है। हमने यथाशक्य सब कण्टक और विघ्न-बाधाओं को सहन करके भी स्वामी

दयानन्द के जीवन चरित को लिखने का यत्न किया है। इस सम्बन्ध में हमसे जो कुछ बन पड़ा है किया है। हमने अपने ऊपर यह भार केवल इसलिए लिया है कि हमारा विश्वास है कि हिन्दू जाति के अभ्युत्थान और वैदिक धर्म की उन्नति दयानन्द के जीवनवृत्त की सम्यक् आलोचना के बिना नहीं हो सकती। दयानन्द ने हिन्दू-जाति के रोग का निदान जिस सुन्दरता से किया है उस सुन्दरता के साथ और किसी सुधारक ने नहीं किया है। दयानन्द हिन्दू-जाति के आदर्श सुधारक थे। अतः यदि हिन्दू-सन्तान हिंदू बनी रहकर ही उठना चाहती है, हिंदू बनी रहकर ही जगना चाहती है और हिंदू बनी रहकर ही मुक्तिलाभ करना चाहती है, यदि वैदिक सभ्यता का फिर से जगत् में विस्तार होना है, हिंदू-शिक्षा को उसके लिए संसार में प्रचरित होना है, हिंदू-आदर्श को फिर से मानव जाति में प्रतिष्ठित होना है, गो दयानन्द-प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

परन्तु खेद है कि भगवान् दयानन्द के जीवन-चरित-सम्बन्धी सामग्री के एकत्र करने का कोई क्रम-बद्ध और संगठित रीति से यत्न नहीं किया गया। "जिन्होंने जन्म ग्रहण करके सौराष्ट्र भूमि को समु-

ज्ज्वल किया, जिनके आविर्भाव से सौराष्ट्र भूमि ने अपने कण्ठ में गौरव की माला धारण की, उनके सम्बन्ध में, उनके नाम, जन्मस्थान, बाल्यचरित के सम्बन्ध में सौराष्ट्रवासी सर्वथा उदासीन और आस्था-हीन हैं। मूर्त्ति-पूजक हिंदुओं से तो ऐसी आशा करनी ही व्यर्थ है, क्योंकि ऋषि ने मरणपर्य्यन्त मूर्ति-पूजा पर अस्त्रनिक्षेप किया और काठियावाड़ में अधिकतर वल्लभ-सम्प्रदाय वाले और स्वामी नारायण-मतानुयायी बसते हैं और दोनों के मन्तव्य ही ऋषि की तीव्र आलोचना का विषय रहे हैं। सामवेदी औदच्यियों में अब न विद्या है और न धन है, वह अधिकतर भिक्षोपजीवी हैं। उनसे यह आशा करना कि वह अपनी जाति के इस महापुरुष की जीवन सम्बन्धी घटनाओं में कुछ मनोग्राहिता दिखावेंगे, दुराशामात्र हैं। अस्तु, आर्य्य समाज को इस विषय में जितना सचेष्ट होना चाहिए था वह उतना सचेष्ट नहीं हुआ। यदि उसी समय जब कि आर्य्य-समाज स्थापित होने आरम्भ हो गये थे किसी सुशिक्षित लेखक को ऋषि के साथ रख दिया जाता और वह उनकी व्याख्या, शास्त्रार्थ और प्रश्नोत्तरों को लिपिबद्ध करता रहता तो उसके द्वारा निःसंदेह संसार का बड़ा उपकार होता। श्रीमान्

हरगोविन्ददास द्वारकादास कहते हैं कि स्वामी जी ने राजकोट में वेद यिषय पर ऐसा व्याख्यान दिया था कि उच्चता, गम्भीरता और युक्ति-युक्तता में, मेरी सम्मत्ति में, वह अपूर्व था। इस प्रकार के केवल एक व्याख्यान से ही संसार वञ्चित नहीं रहा है; बल्कि न जाने इस प्रकार के कितने अपूर्व व्याख्यानों से मानव-समाज को वञ्चित रहना पड़ा है। जिसका धार्मिक जीवन अशेष अभिज्ञता के ऊपर प्रतिष्ठित था, जिनकी शास्त्रदर्शिता, तार्किकता, मनस्विता सब प्रकार से असाधारण थी, और विशेषतः जिनके निष्कण्टक ब्रह्मचर्य का निर्मल प्रभाव उस शास्त्रदर्शिता, तार्किकता और मनस्विता को उज्ज्वल और सुतीक्ष्ण बनाता था, उनके मुख से निकला हुआ एक उपदेश नहीं, वरन् एक २ शब्द लिपिबद्ध करने, मनुष्यों के आलोचना करने तथा संसार के कल्याणार्थ प्रचार करने योग्य था। परन्तु दुःख है उस समय आर्यगण इस बात को हृदयङ्गम नहीं कर सके और किसी लेखक को नियुक्त करके स्वामी जी के साथ नहीं रख सके। और रखते भी कैसे ? आर्य-समाज वा आर्य समाजियों के कलेवर को किसी स्वर्गागत वा अन्य अज्ञात लोकागत देवता ने तो परिपुष्ट किया ही नहीं, वह भी तो उन्हीं

हिन्दुओं में से हैं, उनका अङ्ग प्रत्यङ्ग भी तो उन्हीं हिन्दुओं में से बना है, जिनके पास इतिहास नाम की कोई वस्तु नहीं, जिनके चरित्र में कोई ऐतिहासिक नाम की वृत्ति लक्षित नहीं होती, जिनमें किसी घटना विशेष को, चाहे वह कैसी ही गुरुतर वा आवश्यक क्यों न हो, लिपिबद्ध करने की प्रणाली देखने में नहीं आती। फिर आर्य-समाजियों के चरित्र में ऐतिहासिक भावों का आविर्भाव कैसे हो सकता था ? हम यद्यपि इस बात के कहने से नहीं रुक सकते कि आर्य-समाज का जीवन नितान्त दुर्बल है, ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त क्षीण है और उसमें किसी विषय को विचार की तथा विश्लेषण पूर्ण दृष्टि से देखने की शक्ति अत्यल्प है।

यदि आर्य समाज स्वामीजी के देहान्त के पश्चात् ही किसी व्यक्ति को उनके जीवन-वृत्त लिखने के लिए सामग्री एकत्रित करने के लिए नियत कर देता तो भी इतनी अड़चन न पड़ती, इतनी परिश्रम न करना पड़ता और अनेक ऐसी घटनाओं का ठीक-ठीक पता लग जाता जिनका अब, इस कारण से कि उनके जानने वाले इस संसार में नहीं हैं, कोई पता नहीं लग सकता। बहुत सी बातें जो अब सन्दिग्धा-

वस्था में है, स्पष्ट हो जातीं और बहुत सी विघ्न बाधाएँ जो अब मार्ग की अवरोधक हुईं, न होतीं पर आर्य समाज ने इस विषय में कोई यत्न करना आवश्यक नहीं समझा। उस आर्यसमाज ने जिसके हाथ में स्वामी जी अपनी शिक्षा के प्रचार का कार्य सौंप गए थे और जो आज सहस्र मुख से उनके गुण-कीर्तन करता हुआ नहीं थकता, उस आर्य समाज ने जो उन्हें ऋषि-पदवी प्रदान करने में अत्यन्त आग्रही हैं, जो उनके वचनों को निर्भ्रान्ति तक मानने को भी शायद उद्यत हो सकता है, यह आवश्यक नहीं समझा कि उनका एक सर्वाङ्गपूर्ण जीवन-चरित प्रकाशित करने का यत्न करे। और न उस परोकारिणी सभा ने ही, जिसे स्वामीजी ने अपना उत्ताधिकारी बनाया, इस विषय में कुछ ध्यान दिया। कितनी घोर कर्त्तव्य-च्युति है ! कितनी अतुलनीय कर्त्तव्यग्लानि है !!

विगत चालीस वर्षों में जब भारत की जनसंख्या के चालीस भागों में से एक भाग दयानन्द के अधिकृत हो गया है, भारतवासियों में से तीन-चार लाख़ मनुष्यों के हृदय पर दयानन्द ने अपना आसन जमा लिया, सैकड़ों पाश्चात्यालोक प्राप्त, पाश्चात्य-भव-परिपुष्ट हिन्दू सन्तानों के जीवन का आदर्श स्वामी

दयानन्द की शिक्षा और संसर्ग से परिवर्त्तित हो गया है, दयानन्द का स्थापित किया आर्य-समाज भारत के प्रायः सभी भागों में अपनी शाखाओं का विस्तार करने में समर्थ हो गया है, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, प्रभृति धर्मों और अंग्रेज राजपुरुषों ने उसे प्रबल और प्रधानशक्ति मान लिया है, तो यह कौन कह सकता है कि और चालीस वर्ष वा चार सौ वर्ष पीछे लाखों हिन्दू व अन्य मतावलम्बी दयानन्द के नाम पर अपनी प्रीति और भक्ति की पुष्पाञ्जली अर्पित नहीं करेंगे ? कौन कह सकता है कि हिमालय के पादप्रदेश से कन्याकुमारी तक सारे स्थानों में, भारतभूमि के अधिकांश स्थलों में दयानन्द का प्रभाव प्रतिष्ठित नहीं होगा ? कौन कह सकता है कि आर्य-समाज उस समय बहुशाखा प्रशाखासमन्वित एक विशाल वृक्ष के समान भारत भूमि में बद्धमूल न होगा। बुक्क राजा का मन्त्रित्व प्राप्त करके सायणाचार्य जिस वेदभाष्य का प्रणयन कर गये हैं। यदि वह वेदभाष्य प्रायः ५०० वर्ष के भीतर ही इतना प्रचलित हो गया है और हिन्दुओं का अधिकाँश उसे स्वीकार करने लगा है, तो कौन कह सकता है कि अपने जीवनभर ज्ञान की आराधना करके अपने चरित्र में अखण्ड ब्रह्मचर्य का

उज्ज्वल दृष्टान्त दिखा के दयानन्द जिस वेदभाष्य की रचना कर गए हैं वह वेदभाष्य पाँच सौ वर्ष पीछे लाखों मनुष्यों के सम्मान का पात्र नहीं होगा ? कौन कह सकता है कि देश के भावी वंशीयगण शङ्कर और रामानुज के आचार्यत्व को इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा और सम्मान के साथ ग्रहण नहीं करेगे जितनी श्रद्धा और सम्मान के साथ ग्रहण नहीं करेंगे जितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ वह अब करते हैं ? कौन कह सकता है कि भारत की आचार्य-मण्डलो में स्वामी दयानन्द आचार्यशिरोमणि का पद प्राप्त न करेंगे ? पाठक ! विवेचन करके देखो, क्या दयानन्द दिवाकर के मध्याह्निक विकास के समय तत्कालीन मनुष्यों के मन में स्वतः ही यह प्रश्न नहीं उठेंगे कि यह दयानन्द कौन थे ? वह किस कुल वा परिवार में जन्म लेकर समस्त भारत को धन्य कर गये हैं ? कौन भाग्यवान् पिता इस पुरुषरत्न के जन्मदाता थे ? यदि इन सब का निर्धारित, निश्चित और प्रमाणित विवरण न रहेगा तो इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि भावी वंशीयगण बड़ी गड़बड़ में पड़ेंगे और नाना मनुष्य नाना प्रकार के मत प्रकट करेंगे और विरोधी पक्ष बहुत प्रकार की अलीक और अवास्तविक बातों के प्रचार में अग्रसर

होंगे। अतः हम भारत के इतिहास की रक्षा के नाम पर, और दयानन्द-चरित के गुरुत्व पर सहस्र बार यह बात कहेंगे कि स्वामीजी की जन्म-भूमि आदि के विवरण का प्रामाणिक भित्ति पर स्थापित होना नितान्त आवश्यक है।

काल के अनागत स्तर में जो कुछ होने वाला है वा जिसके होने की पूरी सम्भावना है वह काल के वर्तमान स्तर का आश्रय लेकर ही होगा। सदा ऐसा ही हुआ है और अब भी ऐसा ही हो रहा है। अतः हमें यत्न करना चाहिए कि हम स्वामी जी के विषय में यथाशक्य सब बातें स्पष्ट रूप से स्थिर कर जावें ताकि आने वाले समय में किसी को उन के विषय में भ्रम न रहे। हम देख रहे हैं कि अब भी कोई दुष्ट दुरभिसन्धि-प्रचालित मनुष्य उनके जन्म-स्थानादि के विषय में नाना प्रकार की मिथ्या बातों के प्रचार में लगे हुए हैं। हमें विश्वास करना चाहिए कि स्वामीजी के जीवन, उनकी शिक्षा, उनके सिद्धान्त यहाँ तक कि उनके सामान्य कार्य भी भारत के भावी वंशीयगण की गुरुतर आलोचना के विषय होंगे। इनकी बातों को लेकर उनकी शिक्षा के विरोधी सहस्रों मनुष्य प्रत्येक दिशा से समालोचना के सुतीक्ष्ण

वाणसमह का निक्षेप करेंगे। ऐसी दशा में यह बहुत ही अच्छा होता यदि स्वामीजी अपनी मृत्यु से पहिले अपने नाम; और जन्म-स्थानादि की कथा प्रकाशित कर देते, परन्तु दुःख का विषय है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया या वह ऐसा नहीं कर सके।

जैन सम्प्रदाय बहुत दिन से स्वामी जी का घोर विरोधी चला आता है। पं० जियालाल नामक एक जैन ने कई वर्ष हुए एक मिथ्यापरिपूरित निन्दोक्ति-पूर्ण पुस्तक 'दयानन्द-छल-कपट-दर्पण' नामक प्रकाशित की थी। उसमें जो बातें लिखीं हैं उनका कोई प्रमाण नहीं और न कोई प्रमाण हो सकता है। वह सर्वथा निराधार और निर्मूल हैं। ऐसी ही अलीक घटनाओं से उक्त पुस्तक का कलेवर बना है। ऐसी पुस्तक की समालोचना करनी तो दूर रही, उसका नामोल्लेख करना भी निष्प्रयोजनीय है।

स्वामीजी के चिरवैरी देवसमाज लाहौर के स्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री ने एक बार अपने एक शिष्य को मौरवी भेजा कि वहाँ से स्वामीजी के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या और ग्लानिकर समाचार संग्रह करके ले आवे। परन्तु शिष्य अपने देवगुरु की सदिच्छा-पूर्ति में अकृत कार्य्य रहा और निष्फल प्रयत्न होकर लौट

आया । इसके कुछ दिन पीछे मौरवी महाराज के पुरोहित कवि नानाजी पुरुषोत्तम लाहौर आये और उस शिष्य का उनके साथ साक्षात्कार हुआ ' शिष्य उन्हें देख गुरु के पास ले गया और उन्होंने राजपुरोहित को कुछ प्रलोभन दिखाकर उनसे कहा कि आप यह लिख दें कि "दयानन्द छल-कपट दर्पण" में लिखी हुई बातें सत्य हैं । परन्तु उन्होंने इस बात को स्वीकार न किया और अपने मन में देवगुरु के प्रति घृणा के भाव लेकर वह लौट आये । यह सच है कि अग्निहोत्री सत्यानन्द मिथ्या मेघ की सृष्टि करने के यत्न में समर्थ नहीं हुए और उनका पुनीत उद्देश्य पूरा नहीं हुआ, परन्तु यदि पूरा भी होजाता तो सत्य बहुत दिनों तक छिपा नहीं रह सकता था मेघ छोटा हो वा बड़ा, तरल हो वा गम्भीर, बहुत समय तक सहस्र रश्मि को स्तमित करके नहीं रख सकता । ऐसे ही मिथ्या के सहस्र प्रचार से भी सत्य का सूर्य्य बहुत काल तक स्तमित नहीं रह सकता । सत्य को कोई लाख यत्न से छिपाये परन्तु वह एक न एक समय अवश्य ही प्रकट होकर रहेगा । यह सत्य है सत्य की शक्ति चिरकाल तक अजय और अक्षुण्ण रहती है । परन्तु फिर भी इतिहास व जीवन चरित्र प्रणयन के क्षेत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म

गवेषणा की आवश्यकता है, परिवेष्टनीय शक्ति के विश्लेषण के लिए घटनाओं का यथायथ पूर्वक अवधारण करके उनके प्रभाव को स्पष्टरूप से दर्शाना नितान्त कर्त्तव्य है यदि ऐसा न किया जाय तो दुर्जनों को अपने मिथ्या जाल फैलाने का सुअवसर मिलता है। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि यदि आर्यसमाज ने यत्न पूर्वक स्वामीजी के जन्म स्थान, परिवार आदि का निधारण कर दिया होता तो जैनी जियालाल और अग्निहोत्री सत्यानन्द जैसे विरोधियों को ऐसे दुस्साहस का साहस न होता।

उपसंहार

अब हमारा दयानन्द-परिक्रम का व्रत परिसमाप्त हो गया। संन्यासी परमहंसों के गङ्गापरिक्रम के समान दयानन्द-गंगा के परिक्रम का कार्य शेष हो गया। परमहंसगण गंगा की उत्पत्ति भूमि से आरम्भ करके गंगा के किनारे-किनारे विचरते हुवे गंगासागर तक गमन करके अपने परिक्रम का कार्य समाप्त करते हैं। हमने भी दयानन्द के जन्म-गृह से आरम्भ करके उनकी श्मशान-भूमि तक पर्य्यटन किया है। टङ्कारा से जिसके जीवापुर मुहल्ले के जिस घर में उन्होंने जन्म लिया उससे आरम्भ करके अजमेर के तारागढ़

के नीचे अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस निदारुण श्मशान भूमि को देखकर आए हैं जहाँ उस भारत के सूर्य दिव्यदेह को चितानल ने कुछ मुट्ठी भर भस्म में परिगणित कर दिया था। जैसे गंगा-परिक्रमकारी जन गंगा के दैर्घ्य, गंगा के विस्तार, गंगा की विशालता, गंगा की भीषणता, गंगा के आवेग, गंगा के आवर्त, गंगा के क्षोभ, गंगा की तरंग, गंगा की कल्लोल और गंगा की हिल्लोल को देखते हैं, वैसे ही हमने भी दयानन्द-गंगा का सब कुछ देखा है; इसके प्रत्येक तरंग-निक्षेप पर दृष्टि दी है। कोई-कोई संन्यासी कहते हैं कि हरिद्वार से आरंभ करके गंगासागर तक पर्य्यटन करने में प्रायः तीन वर्ष लगते हैं परन्तु हमने दयानन्द-गंगा क परिक्रम में प्रायः पन्द्रह वर्ष काटे हैं। अतः दयानन्द-गंगा हरिद्वार-वाहनी गंगा की अपेक्षा कुछ दीर्घतर है, कुछ विशालतर है संन्यासी परमहंसगण अपने विश्वास में गंगा-परिक्रमण वा नर्मदा-परिक्रमण से कुछ-न-कुछ पुण्यार्जन करते हैं पाठक ! तो क्या हमने दयानन्द-गंगा का परिक्रमण करके कुछ पुण्यार्जन न किया है ?

मुद्रकः—
जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती
सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज,
देहली ।